“BALCHANMA KA SMAJBHASHAVAIGYANIK ADHYYAN”

(A dissertation submitted to the University of Hyderabad in partial fulfilment of degree.)

MASTER OF PHILOSPHY IN HINDI

2021

PRATIBHA JHA **PROF. SACHIDANAND CHATURVEDI**

(19HHHL10) **(SUPERVISIOR)**

PROF. GAJENDRA PATHAK

(HEAD OF DEPARTMENT)

Department of Hindi

School of humanities

University of Hyderabad

Hyderabad- 500046

Telangana

INDIA

“बलचनमा का समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन”

हैदराबाद विश्वविद्यालय में एम.फिल.(हिंदी) की उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध

2021

प्रतिभा झा

(19HHHL10)

प्रो. सच्चिदानंद चतुर्वेदी

(शोध-निर्देशक)

प्रो. गजेन्द्र पाठक

(विभागाध्यक्ष)

हिंदी विभाग

मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद- 500046

तेलंगाना (भारत)

DECLARATION

I, **PRATIBHA JHA**, hereby declare that this dissertation entitled **"BALCHANMA KA SMAJBHASHAVAIGYANIK ADHYYAN" ("बलचनमा का समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन)** submitted by me under the guidance and supervision of **Pro. SACHIDANAND CHATURVEDI** is a bonafide research work which is also free from plagiarism. I also declare that it has not been submitted previously in part or full to this or any other university or institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my dissertation can be deposited in shodhganga/ INFLIBNET.

DATE: NAME: **PRATIBHA JHA**

PLACE: Reg.no. : 19HHHL10

CERTIFICATE

This is to certify that the dissertation entitled **'BALCHANMA KA SMAJBHASHAVAIGYANIK ADHYYAN'** (बलचनमा का समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन) submitted by **PRATIBHA JHA** bearing reg.no. 19HHHL10 in partial fulfillment of the requirements for the award of master of philosophy in HINDI as a BONAFIDE work carried out by him under my supervision and guidance which is a plagiarism free dissertation as far as i know.

As far as I know the dissertation has not been submitted previously in part or full to this or any other university or institution for the award of any degree or diploma.

Signature of supervisor

Head of department

Dean of the school

अनुक्रमाणिका

अध्याय **पृष्ठ संख्या**

भूमिका

प्रथम अध्याय 1-25

नागार्जुन का व्यक्तित्व और कृतित्व

1.1 क्षेत्र निर्धारण

1.2 विषय निरूपण

1.3 व्यक्तित्व परिचय

1.4 कृतित्व परिचय

1.5 आंचलिकता

1.6 कथा संयोजन

द्‌वितीय अध्याय 26-52

समाजभाषाविज्ञान : सैध्दांतिकी

2.1 भाषाविज्ञान और समाजभाषाविज्ञान

2.2 समाजभाषाविज्ञान

तृतीय अध्याय 53-67

साहित्य और समाजभाषाविज्ञान का अंत:संबंध

3.1 समाज, भाषा और साहित्य

3.2 रचनाकार

3.3 सामाजिक संजाल

3.4 वाक्-व्यापार

3.5 संवादात्मक सहयोग का सिध्दांत

चतुर्थ अध्याय 68-89

बलचनमा का समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन

4.1 भाषायी भूगोल

4.2 बलचनमा में चित्रित भाषायी समाज

4.3 बलचनमा में अभिव्यक्त व्यक्ति बोली, समाज बोली

4.4 भाषा विकल्पन

4.5 कूट-मिश्रण, कूट-अंतरण

4.6 बहुभाषिकता

उपसंहार	90-93
संदर्भ सूची	94-100
परिशिष्ट	101-103

भूमिका

साहित्य मानवीय संवेदनाओं और संबंधों का जीवंत दस्तावेज होता है; जिसमे समाज की सांस्कृतिक परंपरा और भाषायी अस्मिता कलात्मक रूप से अभिव्यक्त होती है| प्रत्येक रचनाकार अपनी साहित्यिक कृतियों में अपने समय के समाज और सामाजिकता को अपनी सृजनात्मक भाषा में रचता है| इस तरह देखा जाए तो साहित्यकार अपने समय का समाजशास्त्री भी है, भाषा वैज्ञानिक भी और इतिहासकार भी; क्योंकि साहित्य अपनी भाषा में या प्रचलित भाषा का परिष्कार कर के, अपने समय के समाज और समाज की मानसिकता को, वहाँ की प्रचलित रूढ़ि और परंपराओं के साथ रचता है| यह सृजन एक तरफ जहाँ सामाजिक होता है वहीँ दूसरी तरफ सांस्कृतिक और ऐतिहासिक होता है| प्रत्येक रचनाकार की सबसे बड़ी और ईमानदार प्रतिबध्दता अपने समय की समाज से होती है| हर रचनाकार इसकी कोशिश अपने साहित्य में करता है| 'नागार्जुन' ने भी अपने पूर्ण साहित्य में इसी तरह की प्रतिबध्दता व्यक्त करने की कोशिश की है| प्रस्तुत शोध 'नागार्जुन' के उपन्यास 'बलचनमा' के समाजभाषावैज्ञानिक पक्षों को समझने की एक कोशिश है| 'नागार्जुन' कृत उपन्यास 'बलचनमा' पर इस तरह के शोध का यह प्रथम प्रयास है|

साहित्य किसी रचनाकार के द्वारा किसी भाषा में रचा जाता है| मनुष्य स्वभाव से सामाजिक होता है| अत: यह भी कह सकते हैं कि साहित्य भाषा के माध्यम से एक समाज और सामाजिकता का पुनर्सृजन है| समाजभाषाविज्ञान में सामाजिक सन्दर्भों के आधार पर भाषा की व्याख्या होती है| दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि साहित्य में भाषा के माध्यम से किसी समाज का चित्रण किया जाता है और समाजभाषाविज्ञान में भाषा का विवेचन-विश्लेषण समाजिक संबंधों के आधार पर किया जाता है| इस प्रकार देखा जाए तो दोनों के मूल में भाषा और समाज है| भाषा और समाज दोनों में समान रूप से उपस्थित है इसलिए संभव है कि साहित्य और समाजभाषाविज्ञान के बीच कोई संबंध है, जिसकी तलाश करने की आवश्यकता अभी बनी हुई है| प्रस्तुत शोध इसी दिशा में एक प्रयास है|

प्रस्तुत शोध में 'बलचनमा' को समाजभाषाविज्ञान के मानकों द्वारा विश्लेषित करने का प्रयास किया जा रहा है| इस शोध में, 'नागार्जुन' कृत उपन्यास 'बलचनमा' पर अब तक किए गये शोध कार्यों से इतर, केवल इसमें प्रयुक्त भाषा के सामाजिक सन्दर्भों की पड़ताल करने की कोशिश की

गयी है| पुरे शोध के केंद्र में ‘बलचनमा’ का समाजभाषाविज्ञान सापेक्षिक विश्लेषण है| समाजभाषाविज्ञान एक बृहत्तर अध्ययन क्षेत्र है| राजेंद्र मेस्त्री का ‘समाजभाषाविज्ञान विश्वकोश’ इसका प्रमाण है| समाजभाषावैज्ञानिक शोध प्राय: बोली जाने वाली भाषा पर किया जाता है पर प्रस्तुत शोध लिखित भाषा पर है| इसलिए इस शोध के द्वितीय अध्याय में उन्हीं मानदंडों का विशेष रूप से विश्लेषण किया जा रहा है जो साहित्य के विश्लेषण में कारगर हैं और जिनका संबंध इस शोध से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से है|

जब किसी विषय के शोध में उस विषय से इतर दूसरे विषय के मानदंडों को आधार बना कर शोध किया जाता है तो उसे अंतर अनुशासनिक शोध कहा जाता है| प्रस्तुत शोध में साहित्यिक विधा के विश्लेषण के लिए समाजभाषाविज्ञान के मानकों का प्रयोग किया जा रहा है, जो साहित्यिक-शोध के मानदंडों से पृथक है| विद्वानों ने इसे समाजभाषावैज्ञानिक शोध-प्रविधि कहा है| इस शोध-प्रविधि में शोध प्रमुख तीन चरणों में संपादित किया जाता है; पहले चरण में तथ्य संकलन किया जाता है| दूसरे चरण में इन तथ्यों का प्रतिलेखन और अंत में इनका अनुशीलन-विश्लेषण कर निष्कर्ष तक पहुँचा जाता हैं| इस शोध-प्रविधि के दो प्रकार हैं|

गुणात्मक शोध-प्रविधि में किसी भाषा के नमूने का संकलन कर उसका विश्लेषण किया जाता है और इसके बाद किसी पारिभाषिक शब्द या मानक की निर्मिती होती है| समाजभाषाविज्ञान में जितने भी मानदंड हैं वे इसी तरह के शोध के लिए निर्मित किए जाते हैं| परिमाणात्मक शोध-प्रविधि में किसी मान्य मानदंडों के आधार पर किसी भाषा का विवेचन-विश्लेषण किया जाता है| इस तरह के शोध में कोई सिध्दांत नहीं गढ़ते बल्कि मान्य सिध्दांतों के आधार पर ही भाषा के सामाजिक सन्दर्भों की पड़ताल करते हैं| साहित्य के समाजभाषावैज्ञानिक विश्लेषण में इसी शोध-प्रविधि का प्रयोग किया जाता है|

प्रस्तुत शोध में परिमाणात्मक शोध-प्रविधि का प्रयोग कर ‘बलचनमा’ का विश्लेषण किया गया है| समाजभाषावैज्ञानिक शोध मूलतः बोली जा रही भाषा पर किया जाता है पर यह शोध साहित्यिक कृतियों पर किया गया है इसलिए इसमें परिमाणात्मक शोध-प्रविधि के अतिरिक्त साहित्य सर्वेक्षण शोध-प्रविधि और सर्वेक्षण शोध-प्रविधि का भी प्रयोग किया गया है| अध्ययन की आवश्यकता और सीमा को ध्यान में रखते हुए शोध-विषय को निम्नलिखित चार अध्यायों में विभक्त किया गया है| प्रथम अध्याय: नागार्जुन का व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व, द्वितीय अध्याय:

समाजभाषाविज्ञान: सैध्दांतिकी, तृतीय अध्याय: समाजभाषाविज्ञान और साहित्य में अन्त:संबंध, चतुर्थ अध्याय: बलचनमा में अभिव्यक्त समाजभाषाविज्ञान के मापदंड|

प्रथम अध्याय, नागार्जुन के व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व पर चर्चा की गयी है| सबसे पहले शोध का निर्धारण और विषय निरूपण किया गया है| क्षेत्र-निर्धारण करते हुए यह बताया गया है कि प्रस्तुत शोध समाजभाषाविज्ञान में किए जा रहे शोध से कैसे अलग है? इसके उपरांत अध्याय में नागार्जुन के व्यक्तिगत जीवन और जीवन में हुए उतार-चढ़ाव पर चर्चा की गयी है| साथ ही साथ नागार्जुन के कृतित्त्व परिचय पर चर्चा करते हुए उनके उपन्यासों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है|

द्वितीय अध्याय, समाजभाषाविज्ञान: सैध्दांतिकी, में समाजभाषाविज्ञान का सामान्य परिचय देते हुए उन मानकों की चर्चा की गयी है जिसका प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध इस शोध से है| समाजभाषाविज्ञान को स्पष्ट रूप से समझने के लिए भाषायी समाज, भाषा और बोली, प्रयुक्ति, लिंग्वाफ्रेंका, व्यक्ति-बोली, समाज-बोली, क्षेत्रीय-बोली, पिजिन, क्रियोल, बहुभाषिकता, कूट-मिश्रण, कूट-अंतरण, भाषा-विकल्पन पर विस्तार से चर्चा की गयी है| इन मानकों के विश्लेषण का मुख्य उद्देश्य शोध की पृष्ठभूमि तैयार करना है| इन्हीं में से कुछ मानकों, जिनका सीधा संबंध साहित्य के विश्लेषण से है, को निकष बना कर ‘बलचनमा’ का विश्लेषण किया गया है| समाजभाषाविज्ञान और इनके मानकों को समझने के लिए रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, राजेंद्र मेस्त्री, रोनाल्ड वर्धो, भोलानाथ तिवारी, दिलीप सिंह, पीटर मुल्हौस्लर आदि भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों की सहायता ली गई है|

तृतीय अध्याय, साहित्य और समाजभाषाविज्ञान के अंत:संबंध में साहित्य और समाजभाषाविज्ञान के अंत:संबंधों की पड़ताल की गई है| इस क्रम में भाषा, समाज और साहित्य एक दूसरे से कैसे जुड़े हैं, इस पर विस्तार से विचार किया गया है| इन तीनों की एकरूपता में संस्कृति किस तरह कड़ी की भूमिका निभाती है; को विवेचित करने का प्रयास किया गया है| साहित्य में लेखक ही भाषा के माध्यम से किसी समाज का चित्रण करता है| इसलिए इस प्रसंग में सबसे निर्णायक भूमिका रचनाकार की होती है| अत: रचनाकार का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश साहित्य को किस प्रकार से प्रभावित करता है, की भी चर्चा की गयी है| इस अध्याय का केंद्रीय प्रसंग साहित्य और समाजभाषाविज्ञान का अंत:संबंध है जिसे प्रदर्शित करने के लिए भाषायी संजाल,

वाक्-व्यापार, और वार्तालाप सहयोग के सिध्दांत की चर्चा करते हुए बताया गया है कि ये तीनों सिध्दांत किस तरह साहित्य और समाजभाषाविज्ञान को जोड़ते हैं| यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि जिस प्रकार समाजभाषाविज्ञान किसी भाषायी समाज के संपर्क को सामाजिक संजाल के आधार पर विश्लेषण करता है उसी प्रकार साहित्य में भी प्रत्येक पात्र सामाजिक संजाल से जुड़ा हुआ है| अत: सामाजिक संजाल साहित्य को समझने की एक नई दृष्टि प्रदान करता है| यह साहित्य और समाजभाषाविज्ञान के बीच योजक कड़ी की भूमिका भी निभा सकता है| इसी तरह की भूमिका वाक्-व्यापार और वार्तालाप सहयोग के सिध्दांत भी निभाते हैं|

चतुर्थ अध्याय, बलचनमा में अभिव्यक्त समाजभाषाविज्ञान के मापदंड में 'बलचनमा' में चित्रित भाषायी समाज को विश्लेषित करने की कोशिश की गयी है| साथ ही साथ वहाँ के भाषायी भूगोल का भी वर्णन किया गया है| उपन्यास के सभी पात्रों के संवादों का विश्लेषण भाषायी समाज के परिप्रेक्ष्य में किया गया है| 'बलचनमा' में अभिव्यक्त समाजभाषाविज्ञान के मापदंड को दिखाने का प्रयास किया गया है कि 'बलचनमा' में चित्रित समाज की भाषायी स्थिति क्या है| इसमें सबसे पहले व्यक्ति-बोली, समाज-बोली और भाषा-विकल्पन से यह बताया गया है कि बलचनमा में इतना भाषायी विविधता क्यों है? इनके पात्रों के संवादों में इतनी पर्तें क्यों हैं? इन प्रश्नों से रूबरू होते हुए 'बलचनमा' में अभिव्यक्त व्यक्ति-बोली, समाज-बोली, और भाषा-विकल्पन के विविध रूपों की चर्चा की गयी है| समाज-बोली के अंतर्गत बलचनमा में चित्रित समाजों की भाषा का विश्लेषण कर उसे विभिन्न वर्गों में विभाजित किया गया है; जैसे कांग्रेसियों की भाषा, सोशलिस्टों की भाषा, शिक्षितों की भाषा, अशिक्षितों की भाषा आदि| भाषा विकल्पन के अंतर्गत संस्थागत भाषा-विकल्पन, शिक्षा पर आधारित भाषा-विकल्पन, सामाजिक स्तर पर भाषा-विकल्पन आदि की चर्चा की गयी है| इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए कूट-मिश्रण, कूट-अंतरण, और बहुभाषिकता की भी चर्चा की गयी है| इसमें सबसे पहले आयातित शब्दों की चर्चा की गयी है और बताया गया है कि क्यों आयातित शब्दों का प्रयोग कूट-मिश्रण नहीं माना जाता है| बलचनमा की बहुभाषिकता की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि किस प्रकार बहुसंस्कृतिकता इस क्षेत्र की बहुभाषिकता की पल्लवित-पुष्पित करती है| कूट-मिश्रण और कूट-अंतरण पर विचार करते हुए इस बात को जानने की कोशिश की गयी है कि इनके कौन से पात्र किन-किन भाषाओं का प्रयोग करते हैं और कहाँ किन भाषाओं में किन भाषाओं के शब्दों का मिश्रण और अंतरण करते हैं? कूट-मिश्रण और कूट-अंतरण का विश्लेषण करते हुए बताया गया

है कि कोई पात्र क्यों हिंदी के वाक्यों में अंग्रेजी, मैथिली, या अन्य भाषाओं के शब्दों का मिश्रण करता है|

प्रस्तुत लघु शोध में निष्कर्षों को उपसंहार के अंतर्गत समाहित करने का प्रयास किया गया है| अंत में परिशिष्ट के साथ-साथ समस्त ग्रंथों की सूची दी गयी है, जिसका इस शोध प्रबंध में प्रयोग किया गया है| शोध कार्य के दौरान अनेक पुस्तकों का अध्ययन किया गया है एवं अपने पूर्व के अनुभव का भी सहारा लिया गया है| ऐसी स्थिति में संभव है की यह अनुभव किसी ग्रंथ से संबंधित हो| फिर भी कोशिश की गयी है कि जो संदर्भ जहाँ से लिया हैं वह ईमानदारी पूर्वक रेखांकित हो सके| शोध में किसी तरह के तथ्य या विचारों के पुनरावृति से बचने का प्रयास किया गया है, इसके बावजूद कई जगहों पर कुछ तथ्यों और विचारों को दोहराया गया है| यह पुनरावृति किसी प्रकार की अनभिज्ञता नहीं बल्कि शोध की आवश्यकता को ध्यान में रखकर किया गया है|

आभार

निसंदेह यह कार्य अकेले संभव नहीं था, अगर मेरे शोध-निर्देशक प्रो. सच्चिदानंद चतुर्वेदी का आशीर्वाद और स्नेहभरा मार्गदर्शन मेरे साथ न होता| इस शोध कार्य के माध्यम से 'बलचनमा' का समाजभाषावैज्ञानिक विश्लेषण कर पाने को समझने में अगर थोड़ी सी भी सफलता मिल सकी है तो इनका सारा श्रेय इन्हीं को जाता है| विषय के चुनाव से लेकर उससे जुड़ी समस्याओं के समाधान में उनका सहयोग रहा| सहयोग शब्द अत्यंत लघु है, परंतु इस शब्द में स्नेह, निर्देशन दोनों ही व्याप्त है| इनके अलावा मेरे शोध समिति के सदस्य प्रो. आर.एस.सर्राजू का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है| हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष और विभाग के सभी प्राचार्यों जिनके प्रोत्साहन और सहयोग के बिना यह लघु शोध संभव न था, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ| इनके साथ विभाग-कार्यालय के कर्मचारी का भी आभारी हूँ जिन्होंने इस कार्य में हर संभव सहयोग किया|

जब से इस विषय पर शोध कार्य आरंभ की हूँ तब से अग्रज कृष्णा पासवान का अमूल्य सहयोग रहा है| विषय की जटिलता को स्पष्ट करने में इन्होंने हमेशा मेरी मदद की, आवश्यक सुझाव दिए और सामग्री संकलन में अभूतपूर्व सहयोग किया| इनके इस सहयोग की मैं आभारी रहूँगी|

मेरे परिवार वालों ने हमेशा मेरी हिम्मत बढ़ाई| इस कार्य की संभावनाओं से अनभिज्ञ होते हुए भी हमेशा मुझे सराहा| इनके प्रेम और आत्मिक सहयोग के बिना ये असंभव था|

मैं उन तमाम ज्ञात/अज्ञात श्रोतों का आभारी हूँ जिनसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से इस कार्य को करने में मुझे थोड़ी भी सहायता मिली हो| उन सभी रचनाकारों का आभारी हूँ जिनकी पुस्तक मेरे लिए दीपक की तरह मार्ग प्रदर्शक की भूमिका बनकर आई| उन सभी दृश्य/अदृश्य प्रेरणाओं का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मेरी सीमाओं को संभावना बनाने में मेरी मदद की तथा निरंतर आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा दी|

प्रतिभा झा

प्रथम अध्याय

नागार्जुन का व्यक्तित्व और कृतित्व

❖ नागार्जुन का व्यक्तित्व और कृतित्व

1.1 क्षेत्र निर्धारण

1.2 विषय निरूपण

1.3 व्यक्तित्व परिचय

1.4 कृतित्व परिचय

1.5 आँचलिकता

1.6 कथा संयोजन

1.6.1 रतिनाथ की चाची

1.6.2 बलचनमा

1.6.3 नई पौध

1.6.4 बाबा बटेसरनाथ

1.6.5 वरुण के बेटे

1.6.6 दुखमोचन

1.6.7 कुम्भीपाक

1.6.8 हीरक जयंती या अभिनन्दन

1.6.9 उग्रतारा

1.6.10 इमरतिया या जमनिया का बाबा

नागार्जुन का व्यक्तित्व और कृतित्व

हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के प्रगतिशील विचारधारा के प्रमुख साहित्यकार बाबा नागार्जुन जनवादी भी थे। साहित्य-प्रतिभा के ऐसे व्यक्तित्व जिन्होंने मानव जीवन के सभी पहलुओं को देखा और उनका चित्रण अपनी भावनाओं में पिरोकर, शब्दों में ढालकर कथा-साहित्य के रूप में साहित्य प्रेमियों के सम्मुख रूप से रखा है।

यद्यपि रचनाकार के भौतिक व्यक्तित्व का परिचय उसकी कलाकृति में प्रतिबिंबित होता है तथापि उसकी कलात्मकता से अलग भी उसका अपना संसार होता है। अपने जीवनकाल में प्राप्त अनुभवों से लेखक का निजी एवं साहित्यिक व्यक्तित्व आकारबद्ध होता है। इसी कारण जीवन तथा साहित्य, साहित्य तथा समाज आदि संबंध स्थापित होते हैं। साहित्यकार की अनुभव-संपन्नता से उसकी जीवनदृष्टि तथा कलादृष्टि भी विकसित होती है। जीवन में प्राप्त अनुभवों से कलाकार के व्यक्तित्व को आकार प्राप्त होता है, उसी का प्रतिबिंब उसके साहित्य में पड़ता है।

नागार्जुन हिंदी साहित्य के कवि तथा कथाकार के रूप में उभर कर आए हैं। उन्होंने कथा साहित्य का सृजन कर न केवल हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है बल्कि जन-जन की पीड़ा को आत्मसात किया है। वे अपने पाठकों और समीक्षकों को भी उस पीड़ा से पूरी संवेदनशीलता से साक्षात्कार कराने में सक्षम हुए हैं। वे साहित्य के उच्च आसन पर बैठ कर जनता के प्रति केवल सहानुभूति ही व्यक्त नहीं करते हैं, अपितु आम जनता से घुल-मिलकर उसके ही एक अभिन्न अंग बनकर उसके सुख-दुख को पूरे हर्षोल्लासऔर देशज संवेदन से जीते हैं। इन अर्थों में उनका साहित्य अनुभूति की प्रमाणिकता से ओत-प्रोत होने के कारण सहज स्वाभाविक और पठनीय है। उनके साहित्य का अध्ययन करते हुए पाठक को स्वाभाविक संवेदनाओं का स्वाद मिलता है।

नागार्जुन का जीवन और साहित्य अपने देश और काल की चिंताओं से उद्देलित, पारस्परिक ज्ञान, विवेक से चैतन्य, लोक दृष्टि से संपन्न, तथा क्रांतिकारी जीवनबोध के साथ जनवाद के

प्रति बेहद समर्पित रहा है। जीवन के कठिन मार्गों से गुजरते हुए उन्होंने जो कुछ देखा-भोगा, उसे ही साहित्य में वाणी दी। अत: उनकी सृजनधर्मिता के आधार-स्रोत के रूप में उनके संघर्षशील जीवन को देखना समीचीन होगा।

आधुनिक काल में विशेषत: स्वातंत्र्योतर कथा साहित्य में बाबा नागार्जुन का एक विशिष्ट स्थान है। उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचंद के उपरांत ग्रामीण समाज के पीड़ित, शोषित, किसान, मजदूर वर्ग के जीवन का चित्रण करनेवाले कथाकारों में नागार्जुन का नाम उल्लेखनीय है। सामाजिक अत्याचार और प्रखर शोषण का चित्रण उनके कथा साहित्य में किया गया है। प्रेमचंद के ही समान वे उपेक्षितों के पक्षधर हैं। नागार्जुन हिंदी के प्रतिष्ठित कथाकार एवं जनवादी चेतना के कार्यवाहक हैं। नागार्जुन ने मुख्य रूप से किसान और ग्राम को ही कथा साहित्य का केंद्र माना। इसलिए उन्होंने जनवादी चेतना की अभिव्यक्ति में मुख्य रूप से किसान, मजदूर, नारी समाज, दलित एवं निम्नस्तरीय लोगों के प्रति गहरी संवेदना व्यक्त की है। नागार्जुन का समस्त साहित्य उनके जीवन से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। उनके जीवन की कथा उनके अपने अनुभव, विचार, समस्त मनुष्यता से जुड़ा उनका मन ही उनका साहित्य है। नागार्जुन जी अपने युग और समस्त भारतीय समाज, राजनीति, धर्म, लोकतंत्र या जनवाद और इन सबसे जुड़े मनुष्य के साथ इस प्रकार जुड़े हैं कि उनसे पृथक होकर चिंतन पर सोचा ही नहीं जा सकता।

नागार्जुन जी हिंदी के प्रतिभासंपन्न साहित्यकार हैं। वैसे देखा जाए तो वे मूलतः कवि हैं। साथ ही उनमें कहानीकार, उपन्यासकार, आलोचक तथा एक सुधि चिन्तक ऐसी अनेक विशेषताएँ विद्‌यमान हैं। अपनी विशिष्ट शैली, जनवादी विचार, शोषित एवं पीड़ित समाज की पीड़ा को समझने वाला और शोषकों की षड्‌यन्त्र के रहस्य को भेदनेवाले निडर साहित्यकार हैं। पीड़ितों से आत्मीयता के कारण उन्हें हिंदी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है। आधुनिक साहित्यकारों ने अपनी युगीन विशेषताओं घात-प्रतिघातों, विकृतियों, विरोधाभासों, समस्याओं, जिज्ञासाओं, विषमताओं को अपने ढंग से विभिन्न विधाओं द्‌वारा व्यक्त किया है। बाबा नागार्जुन से उन सभी को अपने साहित्य में अभिव्यक्ति दी है।

1.1 क्षेत्र निर्धारण

नागार्जुन के साहित्य पर हिंदी में एवं अन्य देशी और विदेशी भाषाओं में अनेक दृष्टियों से शोध किए जा चुके हैं। इनमें मूल रूप से इनकी राजनीतिक चेतना, सामाजिक यथार्थ, लोकचेतना,

ग्राम्यबोध, स्वतंत्रता पूर्व और पश्चात् उत्तर भारत की सामाजिक परिस्थिति इत्यादि रहें हैं। इन्हीं दृष्टियों को केंद्र में रखकर इनके साहित्य का विवेचन विश्लेषण किया गया हैं।नागार्जुन के कथा साहित्य की आलोचना से संबंधित अनेक पुस्तक प्रकाशित हुए। कथाकार तंत्याराव सूर्यवंशी ने अपनी पुस्तक 'नागार्जुन के उपन्यास में वर्ग चेतना' में अनेक प्रकार की वर्ग चेतना को रेखांकित किया है। नागार्जुन के काव्य को आधार बनाकर अब तक अनेक शोध कार्य हो चुके हैं। बुंदेलखंड विश्वविद्यालय से अर्चना गुप्ता ने 'छायावादोत्तर हिंदी कविता में सौन्दर्यबोध : केदार, नागार्जुन और त्रिलोचन के विशेष संदर्भ में', सरदार पटेल विश्वविद्यालय से जगन्नाथ पंडित द्वारा 'नागार्जुन का काव्य और युग: अंत:संबंधों का अनुशीलन', पटना विश्वविद्यालय से अंजुरानी लाल द्वारा 'नागार्जुन की कविताओं में प्रकृति प्रेम और लोक जीवन की अभिव्यक्ति', भोपाल विश्वविद्यालय से मनीषा दुबे द्वारा 'नागार्जुन के काव्य की सौन्दर्य चेतना का आलोचनात्मक अध्ययन', विनोबाभावे विश्वविद्यालय से सरिता कुमारी द्वारा 'नागार्जुन:यथार्थ चेतना एवं लोक दृष्टि आदि शोध कार्य हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त नागार्जुन पर अनेक स्वतंत्र पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी है। लेकिन अभी तक नागार्जुन कृत 'बलचनमा' पर कोई भी शोध कार्य नहीं हुआ है।

इस शोध में नागार्जुन के साहित्य पर किए गये शोध-कार्य से इतर, केवल उनके एक उपन्यास 'बलचनमा' में प्रयुक्त भाषा के सामाजिक सन्दर्भों की पड़ताल करने की कोशिश की गयी है। संपूर्ण शोध के केंद्र में 'बलचनमा' का समाजभाषाविज्ञान सापेक्षिक विश्लेषण है। समाजभाषाविज्ञान एक बृहतरअध्ययन क्षेत्र है। राजेंद्र मेस्त्री का समाजभाषाविज्ञान विश्वकोष इसका प्रमाण है। समाजभाषाविज्ञान प्राय: बोली जाने वाली भाषा पर होती है परंतु प्रस्तुत शोध लिखित भाषा पर है।

1.2 विषय निरूपण

साहित्यिक शोध, साहित्य के विविध पहुलओं के समय के परिप्रेक्ष्य में समझने- समझाने और इसकी प्रासंगिकता की पड़ताल करने की प्रकिया है। इसके माध्यम से साहित्य के उन पहलुओं का उद्घाटन किया जाता है जो अब तक प्रकाश में नहीं आए हैं। प्रस्तुत शोध नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' का समाजभाषावैज्ञानिक दृष्टि से समझने और समझाने का एक विनम्र

प्रयास है। मेरी दृष्टि में 'बलचनमा' पर अब तक समाजभाषावैज्ञानिक दृष्टि से कोई भी शोध कार्य नहीं किया गया है।

समाजभाषावैज्ञानिक शोध प्राय: बोली जा रही भाषा (spoken language) का किया जाता है। अर्थात शोध-साम्रगी बोली जा रही भाषा से ली जाती है। इस दृष्टि से प्रस्तुत शोध थोड़ा भिन्न है। यहाँ 'बलचनमा' उपन्यास को समाजभाषाविज्ञान के मानकों द्वारा विश्लेषित करने का प्रयास किया जा रहा है। इस अध्याय में नागार्जुन के व्यक्तित्व और कृतित्व पर बात की गयी है।

1.3 व्यक्तित्व परिचय

नागार्जुन का जन्म अपने ननिहाल सतलखा पोस्ट मधुबनी, ज़िला दरभंगा, बिहार में हुआ। जन्मतिथि निश्चित न होने के कारण उनकी नानी के साक्ष्य से यह माना जाता है कि सन् 1911 ई. के जून मास में संभवतः पूर्णिमा को वे जन्मे थे। स्वयं नागार्जुन उनकी तिथि के लिखित आधार के अभाव में कुछ कह सकने की स्थिति में नहीं थे।

कथाकार नागार्जुन हिंदी साहित्य में 'नागार्जुन' मैथिली में 'यात्री' लेखकों, मित्रों एवं राजनीति में 'नागबाबा' संस्कृत में 'चाणक्य' नाम से विभूषित हैं। साथ ही इनको हिंदी साहित्य जगत में 'आधुनिक कबीर' नाम से विभूषित किया है। कथाकार एवं कवि का वास्तविक नाम 'वैद्यनाथ मिश्र' है। उनका जन्म कब हुआ; उन्हें भी ठीक से मालूम नहीं है।सन्1911 के जेष्ठ मास की पूर्णिमा को यानि जून में किसी तारीख को वे जन्में, ऐसा मान लिया जाता है। उनके जन्म के बारे में विद्वानों में बहुत मतभेद है। "डॉ. ज्ञानेश्दत्त हरित ने अपने प्रकाशित शोध प्रबंध 'नागार्जुन व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व' में सन् 1911 को ही उनके जन्म का वर्ष माना है।"[1] डॉ. प्रभाकर माचवे ने लिखा है कि "1911 ई. में जेष्ठ मास की पूर्णिमा की यानि जून में किसी तारीख को वो जन्में, ऐसा मान लिया जाता है।"[2] नागार्जुन के जन्मतिथि के संबंध में उनकी नानी को प्रमाण मानते हुए बाबूराम गुप्त जी ने लिखा है "निम्न वर्ग की अधिकांश संतानों के समान नागार्जुन की जन्मतिथि का कोई लिखित प्रमाण नहीं होता। ... उनकी जन्म तिथि के बारे में यदि कोई प्रमाण है तो उनकी नानी जिनके अनुसार जेष्ठ के माह में किसी दिन नागार्जुन का जन्म हुआ था।"[3] नागार्जुन ने स्वयं भी सन् 1911 में ही अपना जन्म स्वीकार किया है। उपरोक्त सभी विद्वानों के मतों के अवलोकन के उपरांत यह निष्कर्ष निकला जा सकता है कथाकार और कवि नागार्जुन का जन्म सन् 1911 में हुआ है।

हिंदी के आम प्रतिभाशाली कवियों की भांति बाबा नागार्जुन का जन्म एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। पिता का नाम गोकुल मिश्र तथा माता का नाम उमा देवी था। जब वे चार वर्ष के थे, उनकी माँ का देहांत हो गया। माँ एक सुशील महिला थी। पिता गोकुल मिश्र घुमक्कड़, लापरवाह, कठोर और फक्कड़ तबियत के व्यक्ति थे। इनकी मृत्यु सितंबर 1943 में काशी गंगा के किनारे मणिकर्णिका घाट पर हुई। माता-पिता के वात्सल्य से वंचित कथाकार के शिशु मन पर पहली छाप अपमानित माँ और विधवा चाची के दुःख भरे जीवन की थी। एक सनातन धर्मी, रुढ़िवादी, अशिक्षित मैथिली ब्राह्मण परिवार में नारी का वैधव्य कितना बहिष्कृत और अपमानित होता है, इसका विस्तृत चित्रण लेखक ने अपने उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' में किया है।

माँ के प्रति पिता का कठोर व्यवहार से नागार्जुन के ह्रदय को बहुत ठेस पहुँची थी। गोकुल मिश्र के फक्कड़ और घुमक्कड़ प्रवृत्ति का जिक्र करते हुए नागार्जुन के बेटे शोभाकांत लिखते हैं "बाबूजी को तो अपनी किशोरावस्था में अपने पिता के रंग-ढंग देखकर यह अंदाजा हो गया था कि अपने गाँव तरौनी में महादरिद्र की स्थिति हमेशा बनी रहेगी क्योंकि पिता को जमीन बेचने का चस्का लगा हुआ था। जमीन बेचकर कई प्रकार की गलत-गलत आदतें पाल रखी है। गोकुल मिश्र अपने उत्तराधिकारी के लिए मात्र तीन कट्ठा उपजाऊ भूमि और प्राय: उतनी ही वास-भूमि छोड़ गये, वो भी सूद-भरना लगाकर बाबूजी और माँ ने उसे बाद में छुड़ाया।"[4] शोभाकांत का यह विवेचन उस पीड़ा का परिचायक है जिसके कारण पिता नागार्जुन को घुमंतू जीवन जीने के लिए विवश होना पड़ा, इसके बाबजूद वे परिवार के प्रति वे कभी निर्मम नहीं रहे। गोकुल मिश्र उमा देवी को निरंतर परेशान करते थे। नागार्जुन के बाल मन को पिता का यह स्वरूप कितना अरुचिकर लगता था कि आज तक वे उन्हें पिता कहने में अरुचि अनुभव करते थे।

नागार्जुन को प्रारंभिक शिक्षा में बहुत परेशानी का सामना करना पड़ा।बालक वैद्यनाथ के चाहने के बाद भी उनके रुढ़िग्रस्त ब्राह्मण पिता ने उन्हें प्रारंभिक शिक्षा देना पसंद नहीं किया। बहरहाल वैद्यनाथ की प्रारंभिक शिक्षा पाँचवी तक किसी प्रकार उनके गाँव में ही पूरी हुई। बालक वैद्यनाथ पढ़ने-लिखने में तेज थे और ऐसे लोगों का मदद करने वाला समृद्ध वर्ग के लोग उस जमाने में हुआ करते थे। नागार्जुन ने प्राइमरी स्कूल की शिक्षा तरौनी गाँव की संस्कृत पाठशाला में पूर्ण की। संस्कृत की पढ़ाई भी गाँव में ही पूरी की। गोनेले में उन्होंने माध्यमिक की पढ़ाई पूरी की और बाद में बनारस जाकर उच्च शिक्षा पर ध्यान दिया। वहाँ से 'साहित्याचार्थ' तथा

बनारस के विद्वानों ने उनकी कविता को जानकर उन्हें 'कविरत्न' की उपाधि प्रदान की। बनारस से वे कलकत्ता चले आए और वहाँ शास्त्रीय तथा लौकिक रचनाओं का गहराई से ज्ञान अर्जित किया।

बनारस से कलकत्ता और वहाँ से कठियावाड़ पहुँचे तो वहाँ उनकी भेंट जैन मुनि रत्नचंद्र से हुई। उन्होंने नागार्जुन को अध्ययन करने का आदेश दिया। उन्होंने उस आदेश को मानकर प्राकृत, पाली, अपभ्रंश आदि प्राचीन भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया। ज्ञान पिपासा विद्यापीठ 'विद्यालंकार परिवेण' में उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया।

नागार्जुन अनेक भाषाओं के जानकार थे। उन्हें संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, सिंघली, मैथिली, बिहारी, अंग्रेजी एवं हिंदी भाषा का ज्ञान था। इन सभी भाषाओं का ज्ञान उन्हें अध्ययन के द्वारा प्राप्त किया था।

नागार्जुन के दुबले पतले शरीर को दमे ने घेर लिया था। उन्होंने बीमारी को दूर करने के लिए न समय पर दवा की और न ही ठीक से चिकित्सा ही करवाई। एक तो वृद्धावस्था और दूसरे दमे की बीमारी के कारण जनसंघर्षों के कर्मठ योद्धा महामानव नागार्जुन 5 नवंबर 1998 को बिहार के दरभंगा ज़िला के ख्वाजा सराय में सुबह 6 बजकर 30 मिनट पर 87 वर्ष की अवस्था में इस महायात्री के प्राण अनंत यात्रा के लिए चल पड़े।

1.4 कृतित्त्व परिचय

नागार्जुन घुमक्कड़ प्रवृत्ति वाले थे। जहाँ साहित्यकारों की संगति मिले वहाँ उनका मन रम जाता था। उनके साथ घटित घटनाएँ उन्हें साहित्य सृजन के लिए प्रेरित करती थीं। उन्होंने भ्रमण करते समय जो देखा, अनुभव किया उसे साहित्य में चित्रित किया। नागार्जुन ने अपना जीवन बहुत ही गरीबी एवं अभावग्रस्तता में व्यतीत किया था, उसके बावजूद उन्होंने साहित्य सृजन में अपनी प्राबल्यबुद्धि का परिचय दिया है। उनकी असाधारण प्रतिभा का परिचय उनके कृतित्व में देखने को मिलता है। नागार्जुन 'यात्री' नाम से लेखन करते थे। यात्री नाम उनके घुमक्कड़ स्वभाव का परिचय देता था। नागार्जुन विशुद्ध रूप से कलम के सिपाही थे। उन्होंने सृजन और साहित्य लेखन को ही अपना धर्म-कर्म मान लिया था। उनके साहित्य में मिथिला प्रदेश की ग्राम्य चेतना, प्रकृति, किसानों के प्रति प्रेम आदि चित्रित हुआ हैक्योंकि यहीं सब उनके प्रेरक थे।

मार्क्सवाद से प्रेरित होने के कारण नागार्जुन का साहित्य वामपंथी तथा मार्क्सवादी रुझान वाला है। उन्होंने जनता के भावों को अभिव्यक्त कर जनता का पक्षधर होने का प्रमाण दिया है। आम आदमी के जीवन के प्रति स्नेह उनके साहित्य में है। उनका साहित्य उपेक्षित, शोषित, भूखे-प्यासे, महंगाई से त्रस्त, शोषण से ग्रस्त, संघर्षरत जनता का चित्रण करता है। उनके साहित्य में शोषक, सत्ताधारी वर्ग, प्रशासन, उनकी दमनकारी नीतियाँ, अन्याय, उत्पीड़न से त्रस्त समाज का वर्णन आता है। उनका साहित्य युग का चित्रण, व्यंग, आलोचना भी करता है।

नागार्जुन ने जो भोगा है, देखा, अनुभव किया उसी की अभिव्यक्ति एक जनवादी, समाजवादी और मानवतावादी साहित्यिक के रूप में अपनी बहुमुखी प्रतिभा संपन्नता के साथ की है। उन्होंने उपन्यास, कहानी, जीवनी, निबंध, आलोचना, बाल-साहित्य, एवं कविता आदि साहित्यिक विधाओं का मैथिली, संस्कृत एवं हिंदी में सृजन किया है।

नागार्जुन को अपनी जन्म भूमि मिथिला से अपार लगाव था। अंचल के ठेठ बोली के प्रयोग से लोक रंग की छटा निखर आती है। मैथिली में समय-समय पर विभिन्न कविताएँ विभिन्न रंगों में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई है। इसके अलावा उन्होंने कथा-साहित्य का भी सृजन किया है। उनके साहित्य की सूची निम्नलिखित है।

कविता संग्रह

युगधारा(1953), सतरंगे पंखों वाली(1959), प्यासी पथराई आँखें(1962), तालाब की मछलियाँ(1974), तुमने कहा था(1980), खिचड़ी विप्लव देखा हमने(1980), हजार-हजार बाँहों वाली(1981), पुरानी जूतियों का कोरस(1983), रत्नगर्भ(1984), ऐसे भी हम क्या! ऐसे भी तुम क्या!!(1985), आखिर ऐसा क्या कह दिया मैंने(1986), इस गुब्बारे की छाया में(1990), भूल जाओ पुराने सपने(1994), अपने खेत में(1997)

प्रबंध काव्य

भस्मांकुर(1970), भूमिजा

उपन्यास

रतिनाथ की चाची (1948), बलचनमा(1952), नयी पौध(1953),बाबा बटेसरनाथ(1954),वरुण के बेटे(1956-57),दुखमोचन(1956-57), कुंभीपाक(1960) (1972 में 'चम्पा' नाम से भी प्रकाशित),हीरक जयन्ती(1962) (1979 में 'अभिनन्दन' नाम से भी प्रकाशित),उग्रतारा(1963),जमनिया का बाबा(1968) (इसी वर्ष 'इमरतिया' नाम से भी प्रकाशित),गरीबदास(1990)

संस्मरण

एक व्यक्ति: एक युग(1963)

कहानी संग्रह

आसमान में चन्दा तैरे(1982)

आलेख संग्रह

अन्नहीनम् क्रियाहीनम्(1983), बम्भोलेनाथ(1987)

बाल साहित्य

कथा मंजरी भाग-१(1958), कथा मंजरी भाग-२

मर्यादा पुरुषोत्तम राम(1955) (बाद में 'भगवान राम' के नाम से तथा अब 'मर्यादा पुरुषोत्तम' के नाम से प्रकाशित)

विद्यापति की कहानियाँ (1964)

मैथिली रचनाएँ

कविता-संग्रह

चित्रा(1949), पत्रहीन नग्न गाछ(1967), पका है यह कटहल(1995)

उपन्यास

पारो(1946), नवतुरिया(1954)

संस्कृत साहित्य

लेनिन स्तोत्रम्, देशदशकम्, शीते वितस्ता, चिनार-स्मृतिः, डल झील, मिजोरम

बंग्ला साहित्य

भारतभवनम्, भावना प्रवण यायावर, अघोषित भारे, भाबेर जोनाकि, आमार कृतार्थ होयछी, आमि मिलिटारिर बूड़ो घोड़ा, निर्लज्य नाटक, की दरकार नाम-टाम बलार

कविता

सबके लेखे सदा सुलभ, बार-बार हारा है, संग तुम्हारे, साथ तुम्हारे, सुन रहा हूँ, जंगल में, ध्यानमग्न वक-शिरोमणि, कोहरे में शायद न भी दीखे, रातोंरात भिगो गए बादल, निराला, मोर न होगा ...उल्लू होंगे, मायावती, प्रतिबद्ध हूँ, संबद्ध हूँ, आबद्ध हूँ, बर्बरता की ढाल ठाकरे, प्रेत का बयान, जो नहीं हो सके पूर्ण-काम, गुलाबी चूड़ियाँ, सच न बोलना, चौथी पीढ़ी का प्रतिनिधि, मैंने देखा, काले-काले, उनको प्रणाम, अकाल और उसके बाद, मेरी भी आभा है इसमें, शासन की बंदूक, चंदू, मैंने सपना देखा, बरफ पड़ी है, अग्निबीज, मोटे सलाखों वाली काली दीवार के उस पार, बातें, भोजपुर, जान भर रहे हैं जंगल में, सत्य, बादल को घिरते देखा है, बाकी बच गया अण्डा, मेघ बजे, फूले कदंब, खुरदरे पैर, ,अन्न पचीसी के दोहे, तीनों बन्दर बापू के, आये दिन बहार के, भूले स्वाद बेर के, आओ रानी, मंत्र कविता, इन घुच्ची आँखों में, जी हाँ , लिख रहा हूँ, घिन तो नहीं आती है, कल और आज, भारतीय जनकवि का प्रणाम, तन गई रीढ़, यह तुम थीं, सुबह-सुबह, लालू साहू, सोनिया समन्दर, शायद कोहरे में न भी दीखे, फुहारों वाली बारिश, बादल भिगो गए रातोंरात, शैलेन्द्र के प्रति, यह दंतुरित मुसकान, फसल, अपने खेत में, बाघ आया उस रात, विज्ञापन सुंदरी, मनुपुत्र दिगंबर, जान भर रहे हैं जंगल में, सच न बोलना, नया तरीका, चमत्कार, नाहक ही डर गई, हुज़ूर, पुलिस अफ़सर, उषा की लाली

पुरस्कार

साहित्य अकादमी पुरस्कार -1969 (मैथिली में, 'पत्र हीन नग्न गाछ' के लिए)

भारत भारती सम्मान (उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ द्वारा)

मैथिलीशरण गुप्त सम्मान (मध्य प्रदेश सरकार द्वारा)

राजेन्द्र शिखर सम्मान -1994 (बिहार सरकार द्वारा)

साहित्य अकादमी की सर्वोच्च फेलोशिप से सम्मानित

राहुल सांकृत्यायन सम्मान पश्चिम बंगाल सरकार से

इनके अलावा नागार्जुन ने बहुत सारे पत्र-पत्रिकाओं का संपादन भी किया है। इनके अलावा साहित्य के अलग-अलग विधाओं में उन्होंने साहित्य का सृजन किया है। उनके साहित्य सृजन में अलग-अलग रचना के वर्ण्य विषय एक दूसरे से काफी भिन्न होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति शोषित वर्गों के प्रति ज्यादा रही है, इनके बावजूद उन्होंने उन सारे समस्याओं का जिक्र अपने साहित्य में किया है जिन समस्याओं का सीधा संबंध इस देश के विभिन्न समाजों से जुड़ी हुई है।

1.5 आंचलिकता

आधुनिक युग में नव्यतर विधाओं के संदर्भ में 'आंचलिकता' एक दिशा की उपल ब्धि है। व्यष्टिसत्य और समष्टिसत्य का उपन्यासों के धरातल पर दो रूपों में विकास हुआ है।व्यष्टिसत्य को लोगों ने मार्क्स,फ्रायड, एडलर, युंग, सार्त्र आदि की वैचारिक भूमि का पर ग्रहण किया है,तो समष्टि सत्य को 'आंचलिकता' ने स्वीकार किया है। उप न्यास के प्रसंग में 'अंचल' 'आंचलिक' तथा 'आंचलिकता' आदि शब्दों पर विचार कर ना आवश्यक है। 'अंचल' शब्द संस्कृत की 'अंच्' धातु में 'अलच्' प्रत्यय के योग से बना है। भौगोलिक आदि सीमाओं से घिरे हुए जनपद को 'अंचल' की संज्ञा दी जा सकती है। वस्तुतः 'अंचल' शब्द स्थान विशेष का सूचक है। 'आंचलिक' शब्द की संस्कृत व्याकरणानुसार सिद्धि नहीं की जा सकती। 'अंचल' से अंचलीय,अंचलता, अचलत्व आदि शब्दों का निर्माण होना चाहिए किन्तु इन शब्दों की अपेक्षा 'आंचलिक' शब्द सर्व प्रचलित हो गया है। 'आंचलिकता' शब्द भाववाचक है।

हिंदी में आंचलिक उपन्यासों का उद्भव स्वत: स्फूर्त, जनपदीय आंदोलनों से प्रभावित अथवा किसी प्रक्रिया का सीधा औपन्यासिक प्रतिफलन नहीं है। इसकी विकास प्रक्रिया का संबंध स्वतंत्रोतर हिंदी साहित्य की उस प्रगतिशील यथार्थवादी, मानवतावादी परंपरा से है जिसकी जड़े प्रेमचंद्र के 'गोदान' की संवेदना दृष्टि और बृहतर भारतीय ग्रामीण किसान समाज के आर्थिक सांस्कृतिक सरोकारों से संबंध है। आंचलिक परिस्थितियों की विशिष्टता में संगठित आंचलिक उपन्यासों में स्वतंत्रोत्यर राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याएँ के आलोक में मुखरित हुई है।

हिंदी में आंचलिक उपन्यास की एक सुदीर्घ और लम्बी परंपरा रही है। इस विधा ने हिंदी साहित्य को सशक्त और कालजयी रचना प्रदान कर हिंदी उपन्यास और भाषा को समृद्ध बनाया है। अनेक पिछड़े और अछूते अंचल को वाणी प्रदान की है। इसने जीवन को देखने का एक नया नजरिया विकसित किया है। कथ्य, भाषा, शैली और शिल्प की दृष्टि से नये आयाम विकसित किए है। इस लेखन में अनुभूतिजन्य यथार्थता की कसमसाहट मिलती है। इसमें पिछड़े क्षेत्रों का यथार्थ, संघर्षशीलता, बदलते संदर्भ, टूटन, सांस्कृतिक परिवर्तन, नई मानसिकता, आक्रोश, व्यवस्थागत विसंगतियां, गरीबी, अशिक्षा, शोषण कुरीतियाँ, राजनीतिक पतन, चरमराता पारिवारिक ढांचा आदि का विवेचन है। इसमें एक और आधुनिकता और प्राचीनता की टकराहटें, सामंती मानसिकता, औद्योगिकीकरण का प्रभाव, प्राकृतिक विपदाएं, चुनाव, सांस्कृतिक विघटन, अंधविश्वास जैसे शब्दों का अंकन हुआ है तो दूसरी और इन उपन्यासों में मौलिक कथ्य, विषय वैविध्य, स्थानीय रंगत, सामूहिक चेतना, लोकतंत्र का रचनात्मक पक्ष, समाजशास्त्रीय दृष्टि, लोक साहित्य का अंकन, व्यक्तिवाद का विरोध, सामूहिक चेतना, राष्ट्रीय जागरण, जनचेतना, समाज, संस्कृति, अन्वेषण, आंचलिक भाषा, संघर्षशीलता, अस्मिता, नई मानसिकता, भावात्मक एकता, प्राकृतिक सुषमा, नवनिर्माण की ललक, प्रगति की कामना, अन्याय का विरोध, प्रगतिशीलता, मानवतावाद आदि का कमोवेश विवेचन मिलता है।

आंचलिक उपन्यासों में अंचल विशेष की भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं का चित्रण करना आंचलिक उपन्यासों का प्रमुख उद्देश्य है। यही कारण है कि उपन्यासकार उस अंचल विशेष की भौगोलिक विशेषताओं के साथ-साथ वहाँ के जन-जीवन का यथार्थपूर्ण चित्रण अपनी रचनाओं में करता है। नागार्जुन के साहित्य में आंचलिकता का समावेश है। ऐसा प्रतीत होता है कि मैथिल-समाज उनकी रग-रग में रचा बसा है। वहाँ के ग्राम जीवन के प्रति उनकी गहरी रचनात्मक लगाव है। वे ग्राम जीवन का एक-एक कोना झाँक आए हैं, तथा सब में घुल-मिलकर, साथ-बैठकर एक-दूसरों की धड़कनों को महसूस कर सकते हैं। इसलिए उनके रचनाओं का कथ्य व्यक्ति की निजी जिंदगी का लेखा-जोखा बनकर नहीं आता, वरन व्यक्ति वहाँ सामाजिक जिंदगी का अंग बनकर आता है। नागार्जुन ने मिथिला के क्षेत्रीय जन-जीवन, रम्य-प्रकृति, पक्षियों की चहचहाहट, परिवेश, खान-पान का जो चित्रण प्रस्तुत किया है, इससे उपन्यासकार का अपने अंचल के प्रति प्रति सहज लगाव ही है। डॉ. शशिभूषण सिंहल के शब्दों में - “नागार्जुन के कला की विशेषता है-कथन का सुनिश्चित क्रम,कथ्य का संक्षिप्त निरूपण,

सजीव-चित्रण, प्रसंग की मार्मिकता, तथा प्रगतिशील तत्त्वों के प्रति आग्रह। वे रेणु के भांति चित्रण शिल्प के प्रति सायास सचेष्ट नहीं, किंतु चित्र की पृष्ठभूमि तथा उसके अवयवों को पहचानने में तथा अंकित करने में आंचलिक उपन्यासकारों में अग्रणी हैं।"[5]

इस प्रकार हम कह सकते है कि आंचलिक उपन्यास परम्पराएँ और मान्यताओं से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जुड़ी हुई है। ये उस अंचल विशेष की जन-जीवन की भाषा, वेशभूषा, उत्पादन के साधन, वर्ग और जातियाँ तथा उसका परस्पर संबंध, धार्मिक विश्वास,जन्म से लेकर मृत्यु तक के आधार, शिष्टाचार, चारित्रिक आदत, सामाजिक उत्सव और समारोह आदि के समावेश रहता है। इसके अलावा उस अंचल विशेष की भौगोलिक स्थिति, राजनीतिक महत्त्व, नदियों, जंगलों,पेड़-पौधे, भूमि की बनावट और परिवर्तन, फासले और उनसे वहाँ के जन-जीवन का संबंध, बदलते हुए सामाजिक मूल्यों आदि का विश्लेषण रहता है। कुल मिलाकर आंचलिक उपन्यास अंचल विशेष का आईना होता है।

1.6 कथा संयोजन

नागार्जुन के उपन्यासों की सफलता की नींव उसके सुदृढ़ कथा संगठन पर आधारित है। एक सुदृढ़ कथानक के ढांचे को खड़ा करने में जिन तत्वों सत्यता, रोचकता, नाटकीयता की आवश्यकता होती है, वे सभी नागार्जुन का कथा कृतियों में सहज पाए जाते हैं। यहाँ सत्यता का संबंध यथार्थ जीवन के अनुभूत तथ्यों से है, तो रोचकता पाठक की संवेदनशीलता से संबंध है और नाटकीयता कथावस्तु के विकास, उत्कर्ष की चरम स्थिति, समापन आदि के सम्यक विधान से संबंधित है। उल्लेखनीय है कि उनके उपन्यासों में कथा संयोजन जीवन के सहज और यथार्थ धरातल पर हुआ है। उल्लेखनीय है कि नागार्जुन अपने आस पास के सामान्य जन-जीवन से कथा-सूत्र उठाते हैं और वैयक्तिक अनुभवों से उसे सामाजिक कलेवर देते हुए कथानक का ताना-बाना बुनते हैं। इसलिए उनके उपन्यासों में भोगे हुए जीवन यथार्थ का व्यापक चित्रण है, कला की प्रधानता एवं कल्पना की अतिशियता नहीं।

(1.6.1)रतिनाथ की चाची (1948)

रतिनाथ की चाची नागार्जुन का पहला उपन्यास है। उसका कथानक मिथिला अंचल की सीमाओं से आबद्ध सुगठित कथानक है, और इसका वर्ण विषय हमारे समाज में प्रताड़ित विधवाओं के

प्रति पाठकों की सहानुभूति जागृत करना है। इसकी विषय वस्तु एक उपेक्षित, अपमानित, और यातनापूर्ण वैधव्य जीवन जीती हुई गौरी नामक ब्राह्मण से संबंधित है। गौरी का जन्म एक मध्यवर्गीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बचपन सुखी संपन्न व्यतीत हुआ। उसके पिता चुम्मन झा ने कुलीनता की दृष्टि से बड़े परिवार में मगर आर्थिक दृष्टि से विपन्न मैथिल ब्राह्मण परिवार में दमे के रोगी और प्रकृति से सुस्त व्यक्ति के साथ गौरी का विवाह कर दिया जो एक पुत्र उमानाथ और एक पुत्री प्रतिभामा को छोड़कर संसार से विदा ले चुका था। जिसके फलस्वरूप विधवा चाची गौरी को आजीवन अपमान और लांछन सहना पड़ा। गौरी अपने पुत्र उमानाथ और पुत्री प्रतिभामा के प्रति जिम्मेदारियों को जैसे ही पूरा करती है, जयनाथ उसके जीवन में सूत्रधार बनकर प्रवेश करता है। गौरी और जयनाथ का यौन-संबंध, उसका तिरस्कार भरा जीवन और अंततः हैजा से उसका मर जाना आदि घटनाएँ कथानक को गतिशील बनाती है।

स्वाभिमानी प्रकृति वस्तुतः गौरी के समाज की जिन परिस्थितियों को नागार्जुन ने दिखाया है इस समाधान के अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं नजर आता। अगर नागार्जुन ऐसी परिस्थिति में कोई समाजवादी अथवा अन्य प्रगतिशील समाधान ढूंढते तो निश्चय ही यह विचार ऊपर से छिपा हुआ प्रतीत होता है तथा सामाजिक यथार्थ के अंकन में अस्वाभाविकता आती। अपने अन्य उपन्यासों उग्रतारा और दुखमोचन में विधवा समस्या का समाधान नागार्जुन पुनर्विवाह में खोजते हैं। जबकि इससे पूर्व प्रेमचंद वरदान, प्रतिज्ञा और प्रेमाश्रम उपन्यासों में विधवा समस्या का समाधान आश्रम में खोजते हैं जबकि इसका सही समाधान पुनर्विवाह ही है। 'रतिनाथ की चाची' में गौरी के माध्यम से जो विधवा का करुणामय चित्रण हुआ है वह समूचे हिंदी साहित्य में बेजोड़ है।

नागार्जुन का यह प्रथम उपन्यास है। इसमें नागार्जुन ने अनमेल विवाह जैसी सामाजिक बुराई के आर्थिक, सामाजिक कारणों पर प्रकाश डाला है। भारतीय ग्रामीण समाज में नारी जीवन की इस त्रासदी पर एक सचेत दृष्टिकोण निर्मित करना ही नागार्जुन का उद्देश्य है।

(1.6.2) बलचनमा (1952)

'बलचनमा' उपन्यास 1952 में इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ| इस उपन्यास ने नागार्जुन को उपन्यासकार के रूप में स्थापित किया| स्वतंत्रता संग्राम में जिस पीढ़ी से अपने हकों के लिए जमींदारों और सरकारी दमन से संघर्ष किया उस पीढ़ी का इतिहास ही नागार्जुन ने 'बलचनमा' में

कथाबद्ध किया है| यह उपन्यास साहित्य तत्व की तरह काल्पनिक है, लेकिन इस उपन्यास की एक भी घटना काल्पनिक नहीं लगती| उपन्यास का परिवेश दरभंगा क्षेत्र का ग्रामीण परिवेश और पटना का थोड़ा सा भाग है| दरभंगा, मधुबनी, के आस-पास के आर्थिक, सामाजिक, और राजनीतिक जीवन का चित्रण गहराई से उपन्यास में किया गया है|

यह उपन्यास आरंभ से अंत तक दरभंगा जिले के रामपुर गाँव के बलचनमा की कथा है| बलचनमा ही आरंभ से अंत तक अपनी कहानी कहता है| नागार्जुन के अन्य कथानकों के तरह भी यह कथा भी छोटी जातवाले, गरीब और शोषित बलचनमा की कथा है| उपन्यास का आरंभ ही मानवी मन को गहरी व्यथा में डाल देता है| गाँव का जमींदार बलचनमा की पिता की हत्या कर देता है| बलचनमा के पिता लालचन की हत्या इसलिए की जाती है उसने आम के बागों से दो किसुनभोग आम चुराया था| गाँव के जमींदार ने उन्हें खम्बे से बांध दिया और इतना मारा की उनकी जान चली गयी| यह भयंकर घटना बलचनमा के दिमाग में घर कर गयी| जमींदारों का यह अमर्याद सत्ता और न्याय व्यवस्था की अनुपस्थिति की यह कथा भारतीय जीवन के एक लम्बे समय की यथार्थ है|

बलचनमा के पिता को मँझले मालिक के द्वारा मारने के बाद भी, पेट भरने के लिए उन्हें उन्हीं जमींदारों का आश्रय लेना पड़ा| मँझले मालिक के छोटे भाई के यहाँ बलचनमा मजदूरी करने लगा| बलचनमा की दादी ने छोटी मालकिन के पैर पकड़कर बलचनमा को उन के यहाँ भैंस चराने के काम पर रखा| मजदूरी के नाम पर भोजन और उतरन के कपड़े बलचनमा को मिलनेवाले थे| काम के नाम पर मिलनेवाली मजदूरी भी बड़े एहसान के रूप में मिलती थी|

मालिकों और मेहमानों का जूठन बलचनमा जैसे परिवारों का मुख्य अन्न होता था| बलचनमा जब छोटे मालिक के यहाँ काम करता था तब छोटी मालकिन के भांजे फूल बाबू रामपुर आए| वे पटना में पढ़ते थे| उन्हें साथ में रहने के लिए कोई बहिया की आवश्यकता थी| उन्होंने बलचनमा को इस कार्य के अनुरूप समझा| इस तरह बलचनमा के लिए गाँव की यंत्रणाभरी दुनिया छोड़कर बाहरी दुनिया से संपर्क होने का रास्ता खुल गया| फूल बाबू कांग्रेसी बन गये थे| पटना में वे बलचनमा को मनुष्य के रूप में रखते है| स्वतंत्रता आंदोलन की वजह से पढ़ाई की जगह फूल बाबू आंदोलन में व्यस्त रहने लगे| उन्होंने कांग्रेस का काम करना ही तय किया| वे बरहमपुर के कांग्रेसी आश्रम में रहने लगे और बलचनमा को गाँव वापस आना पड़ा| बलचनमा की संघर्ष

की कथा यहाँ से शुरू होती है कभी बहन की इज्जत को बचाने के लिए, कभी किसान के खेतों के लिए| बलचनमा संघर्ष राधा बाबू से सीखते है जो एक समाजवादी हैं| उन्हीं के साथ रहकर बलचनमा समाजवादी बन जाता है और हक़ के लिए संघर्ष करता है| इसी दौरान रामपुर गाँव में जमींदारों का अत्याचार बढ़ जाता है| बलचनमा अब खुलकर जमींदारों के विरुध्द समाजवादी विचारधारा से संघर्ष करता है| इसके फलस्वरूप जमींदार के लोग रात में उसे गिरफ्त में लेकर घायल कर देते है| वह बेसुध होकर जमीन पर गिर जाता है| उपन्यास यहीं पर समाप्त हो जाता है|

जनवादी तेवरों से लबरेज जमींदारों की गर्हित मानसिकता का खुलासा इस उपन्यास में हुआ है। एक बच्चा जमींदार के बगीचे से कच्चा आम तोड़ लेता है, इस कारण उसके पिता की मृत्यु हो जाती है। पिता के हत्यारे जमींदार के यहाँ बलचनमा को भैंसे चरानी पड़ती है। बलचनमा अनपढ़ जरूर है पर उसके मन में इतनी समझ जरुर है कि जमींदार शोषक है और इसका प्रतिकार करना ही पड़ेगा। वह अपने तरीके से लोगों के मन में जमींदार के अन्याय के विरुध्द नई सोच उत्पन्न भी करता है। प्रेमचंद के गाँव और नागार्जुन के गाँव में बहुत ज्यादा अंतर नहीं दीखता लेकिन अंतर पात्रों की बुनावट को लेकर है। नागार्जुन के पात्र बगावत भी करते हैं। अन्याय को सहने की सीमा तक सहते भी हैं, अंतत: वे मनुष्यता के निकट पहुँचते हैं और अपनी अस्मिता के लिए खड़े होते नजर आते हैं।

बलचनमा के अंतस में भी आग है और वह प्रकट भी होती है। बलचनमा का पात्र कहता है,कि जमींदारों का गाँव है। लुच्चे होते हैं ये लोग। किसी की लड़की सयानी हुई नहीं, कि निशाना साधने लग जाते हैं। बड़े घरों के क्या जवान, क्या बूढ़े बहुतेरों की निगाह पाप में डूबी रहती है। खेतिहर मजदूरों पर होने वाले अत्याचार का जो वर्णन नागार्जुन ने किया है, उसे पढ़ कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। जमींदार बलचनमा के पिता पर जो अत्याचार करता है, उसका वर्णन द्रवित कर देने के लिए पर्याप्त है। बलचनमा कहता है, "मालिक के दरवाजे पर मेरे बाप को एक खभेली के सहारे कसकर बाँध दिया गया। जांघ, पीठ और बाँह, सभी पर हरी कैली के निशान उभर आए हैं। चोट से कहीं-कहीं खाल उधड़ गई है। अलग कुछ दूर छोटी चौकी पर वनराज की भाँति मंझले मालिक बैठे है|"[6]

'बलचनमा' उपन्यास लिखने के पीछे नागार्जुन का मुख्य उद्देश्य गरीबी और शोषण का यथार्थ चित्रण और साथ ही साथ शोषण से मुक्ति और अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए संघर्ष को

व्यक्त करना है| नागार्जुन के उपन्यास आंचलिक-संस्पर्श के साथ वैश्विक हैं। इनकी कथाएँ पढ़ कर न केवल मानवीय संवेदनाओं का पता चलता है वरन वे अनेक सूचनाएँ भी देते हैं। 'बलचनमा' का कथानक अत्यंत सहज और सरल है| यह उपन्यास क्रांतिकारी सोच के साथ-साथ आंचलिक का भी पुट लिए हुए है|

(1.6.3) नई पौध (1953)

हिंदी में प्रकाशित होने से पूर्व यह उपन्यास मैथिली भाषा में 'नवतुरिया' शीर्षक से लिखा गया था| इस उपन्यास में मैथिली ब्राहमणों के समाज का चित्रण किया गया है| मिथिला में सौशठ मेले में बहुत से वर एकत्रित होते हैं| वहाँ जाकर लोग अपने लड़कियों के लिए वर ढूंढते है| खोंखई झा एक कथावाचक है| वह अपनी पितृहीन नतिनी बिसेसरी के लिए इस मेले में वर ठीक करने जाता है| वह बेटी के लिए अयोग्य वर ढूंढ चुके हैं और काफी रुपया कमा चुके हैं| वह अपनी चौदह वर्षीय नातिन के लिए भी एक साठ वर्षीय बूढ़े को ढूंढता है| इसके लिए नौ सौ रूपये की रकम पक्की होती है| किन्तु गाँव की नई पौध इस विवाह का विरोध करते हैं| परिणामत: वाचस्पति नामक एक प्रगतिशील युवक बिसेसरी से विवाह कर लेता है|

इस उपन्यास में लेखक ने मिथिला के जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है और एक सड़ी गली प्रथा, स्वायवृति तथा पुरानी पीढ़ी का शोषक वासना का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है| वाचस्पति से बिसेसरी का विवाह कराकर लेखक नई पौध की चेतना की और संकेत करता है| इस प्रकार नई पौध प्राचीन और नवीन मूल्यों का संघर्ष पर आधारित उपन्यास है| यद्यपि कथा प्रगतिशील विचारों से युक्त है तथापि उसमे सौराठ के जीवन और परिवेश को चित्रित कर आंचलिक स्पर्श दिया गया है| बिसेसरी के विवाह का विरोध गाँव के प्रगतिशील नवयुवक करते हैं और वृध्द वर महोदय निराश होकर वापस लौट जाते हैं| अनमेल विवाह स्थगित हो जाता है पर बिसेसरी के विवाह को लेकर समस्या और जटिल हो जाती है| प्रगतिशील युवकों का नेता दिगंबर इस दिशा में प्रयत्न कर अपने बाल्यमित्र वाचस्पति से बिसेसरी का विवाह बिना किसी आडंबर संपन्न करा देता है|

वाचस्पति राजनीतिक पात्र है और समाजवादी दल का सदस्य भी| उसका जीवन जन आंदोलन को अर्पित है और उसी में वह अपनी सार्थकता देखता है| इस विवाह से परंपरागत रूढ़िवादिता का अंत होता है और नई सोच की विजय होती है| यहाँ नई पौध का आशय नई पीढ़ी से है जो

क्रांतिकारी विचारों की संवाहक है| खोंखई पंडित, घटकराज आदि के रूप में लेखक ने मिथिला की पुरानी रुग्न परंपराओं के अंध समर्थक लोभी ब्राह्मणों का यथार्थ प्रस्तुत किया है| दूसरी और दिगम्बर और वाचस्पति जैसे प्रगतिशील समाजवादी विचारों से युक्त दृढ़ निश्चयी युवकों को उनके विरुध्द खड़ा किया है|

(1.6.4) बाबा बटेसरनाथ (1954)

बाबा बटेसरनाथ हिंदी का अनोखा उपन्यास है| उपन्यासकार ने कथा शिल्प की दृष्टि से एक नवीन प्रयोग किया है| इसमें पुराने वृक्ष को मानवीकरण कर कथा को उसी के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है| पेड़ को मानव रूप धारण करने की कल्पना की गयी है| नागार्जुन का यह अत्यंत सफ़ल और सारगर्भित उपन्यास है| लेखक ने अपने चिंतन का निचोड़ इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है| आधे से अधिक अंश बाबा बटेसरनाथ की जैकिसुन यादव की सुनाई कहानियाँ है| यह कहानियाँ मुख्यतः जमींदारी रौबदाब और शोषण, जमींदारी पतन, बाढ़, अकाल और ग्रामीणों तथा इतिहास में मानवों की धार्मिक मान्यताओं पर आधारित हैं| इन कहानियों में जैकिसुन यादव सिर्फ श्रोता का काम करता है| बाबा बटेसरनाथ के सामने उसकी जबान बंद रहती है| वह कुछ बोल नहीं पाता| आधी रात में वट के वृक्ष के नीचे सोये जैकिसुन को वह वृक्ष मानव रूप धारण कर पुरानी स्मृतियों के आधार पर विभिन्न कहानियाँ सुनाता है|

(1.6.5) वरुण के बेटे (1956)

लघुकाय आधुनिक उपन्यास 'वरुण के बेटे' सन 1954 में नागार्जुन द्वारा लिखित उपन्यास है| इस उपन्यास में नागार्जुन ने मिथिला के मछुओं और उनके जीवन का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है| उन लोगों के सामाजिक जीवन का अंकन करते समय राजनीतिक हलचलों का सन्निवेश कर, साम्यवादी विचारों की अभिव्यक्ति दी गयी है| 'वरुण के बेटे' बिहार के दरभंगा के आस-पास के क्षेत्र में बसे मछुवारों के संघर्ष और अस्तित्त्व की लड़ाई पर आधारित उपन्यास है| उपन्यास का आरंभ ही उनके संघर्ष और अभाव की कथा के साथ हुआ है| पूस की रात-रात भर गढ़पोखर में मछली का शिकार कर के खुरखुन जब घर आता है तो कमरे के कोने में पुआल बिछी होती है, उस पर फटी पुरानी बोरी बिछी होती है| एक लड़की और नंगे बच्चे उस बोरी पर

सोये हुए थे| ओढ़ने के नाम पर गुदड़ी के दो तीन छोटे बड़े टुकड़े उन शरीरों को जहाँ वहाँ से ढक रहे थे| दूसरे कोने में चूल्हा चौका| तीसरे कोने में अनाज रखने के लिए कड़े और कुंठेल| चौथे कोने में खाली छप्पर के बासों से छीटें लटक रहे थे| मछलियाँ पकड़ने और फसाने के औजार भीतर की खूंटियों से टंगे थे| बाकि बची हुई जगह में जालों की कढ़ाई बुनाई में काम आने वाले छोटे बड़े सूप शालाखें रखे हुए थे| यानि खुरखुन का समूचा संसार तीस साल पुरानी तेरह फुट लम्बे और नौ फुट चौड़े घर में बसा हुआ था|

उपन्यास का प्रमुख राजनीतिक पात्र है मोहन मांझी| साम्यवादी ग्रामीण कार्यकर्त्ता और साथ ही साथ राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम का एक सिपाही जो स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तीन बार कांग्रेस अनुयायी के रूप में कारावास भोग चुका है| स्वाधीनता के बाद कांग्रेस के कार्यों से अरुचि होने पर वह किसान सभा का सभापति और लोगों में लोकप्रिय नेता बन जाता है|

मोहन माँझी कम्युनिस्ट दल के किसान सभा का सभापति है| उस से पूर्व समाजवादी पार्टी का ज़िला कमेटी का सदस्य था| वह अपने प्रांत का विकास और उन्नति करना चाहता है| इस संदर्भ में वह पक्की सड़क बनवाने की बात करता है साथ ही साथ कोशी प्रोजेक्ट का काम आगे बढ़ाने की मांग करता है ताकि किसान और मछुवारों को परेशानी का सामना न करना पड़े और वे गरीबी में न जिए|

संघर्ष की सारी मानवीय कहानी को बड़े सफ़ल ढंग से इस उपन्यास में चित्रित किया गया है| इस जीवन चित्रण में नागार्जुन को सफलता मिली है| बाह्य परिवेश और आंतरिक अनुभूतियों की छोटी से छोटी बात भी लेखक ने अत्यंत सुंदर और सहज तरीके से इस उपन्यास में चित्रण किया है| 'वरुण के बेटे' अति साधारण जीवन की एक असाधारण जीवन के स्तर तक उठने की क्षमताओं से संपन्न कथा है|

(1.6.6)दुखमोचन (1957)

दुखमोचन नागार्जुन की जनवादी और समाजवादी विचारों से युक्त रचना है। प्रस्तुत उपन्यास में टमका कोइली नामक ग्राम की समस्याओं और कर्तव्यों पथ पर आरूढ़ जनता का निर्माणकारी चित्र वर्णित है। उपन्यास का मुख्य पात्र है दुखमोचन जो वस्तुओं के वास्तविक मूल्यों को भली-

भांति पहचानकर गाँव की उन्नति का स्वप्न संजोता है। उपन्यास का प्रमुख नायक दुखमोचन एक सहृदय और उदार व्यक्तित्व का स्वामी है। उसके निष्कर्ष और सहज ह्रदय का परिचय हमें उपन्यास के आरंभ में ही उस स्थान पर ले जाता है जब राम सागर की मृत्यु का समाचार पहुँचाने मधु उसके घर पहुँचा था। दूसरों का सहायता करने वाला दुखमोचन संपूर्ण गाँव का प्रिय है और अपने नाम के अनुकूल गुण भी है दुखमोचन में। किसी भी प्रकार की विपत्ति आ जाने पर वह अपना सुख दुख भूलकर दूसरों की हित में लग जाता है।

दुखमोचन एक स्वाभिमानी पुरुष है। संपूर्ण गाँव की सहायता के लिए वह दिन रात एक कर देता है किंतु सहायता में प्राप्त वस्तुओं का इस्तेमाल वह अपने घर में नहीं होने देता। यही कारण है कि जब मास्टर टेकना कुछ गंधक के पैकेट, नीम के साबुन की टिकिया तथा एक नारियल तेल का डिब्बा दुखमोचन की अनुपस्थिति में सुखदेव को दे आता है तो सुखदेव उस से प्रसन्न होता है। किन्तु मामी को इन वस्तुओं को देखकर दुख और क्रोध होता है क्योंकि वह दुखमोचन के स्वभाव से भली-भांति परिचित थी। उन्हें यह अच्छी तरह मालूम है कि इस तरह से आई हुई वस्तुओं को देखकर दुखमोचन को अपार कष्ट होता है। जब मामी उन्हें सामान के बारे में अवगत कराती है तो वह कुछ क्षण तक गंभीर रहा और मामी को इस बात का सलाह देता है कि घर में इन वस्तुओं का प्रयोग न हो।

दुखमोचन संकट आ पड़ने पर दुश्मन की सहायता करना भी अपना कर्तव्य समझता है। गाँव में भीषण अग्निकांड होता है तो दुखमोचन सहायता करनेवाले में सबसे आगे होता है। वह अपने घर उस समय देखने पहुँचता है जब घर से सारा सामान बाहर निकाला जा चुका था। संसार में कुछ ही विरले व्यक्ति होते है जो अपना घर बाद में देखते हैं और दूसरों के घर पहले देखते हैं। नागार्जुन के इस उपन्यास में सर्वोदयी भावना का अंकन हुआ है। दुखमोचन संवाद के निकट और विवाद से परे है और प्रेम में उसकी दृढ़ आस्था है। यही उसका आधारभूत तत्त्व है जो सर्वोदय के अभेद की सीढ़ी है। दुखमोचन में एक श्रेष्ठ व्यक्ति के सभी गुण विद्यमान हैं और वो निश्चय ही एक प्रशंसा योग्य पात्र है।

(1.6.7)कुम्भीपाक (1960)

उपन्यास स्वयं नागार्जुन के शब्दों में, “एक नारी की कहानी है जो उन्नीस वर्ष की अवस्था में विधवा हो चुकी है, चार महीने के गर्भ को गिराने के लिए कोई रिश्तेदार उसे ले जाता है और

धर्मशाला में अकेले छोड़ कर खिसक जाता है। तब से दो वर्ष इन्दिरा के कैसे कटे यह बात धरती जानती होगी या आसमान जानता होगा।"[7] कथानक की दृष्टि से यह एक सफल रचना है जो समस्या के उचित समाधान के साथ खत्म होती है। कथानक घटना प्रधान है, राजनीतिक विचारों से मुक्त होने के कारण धारदार बन गयी है। इन्दिरा का ब्याह, उसका गर्भवती होना, संबंधी के साथ आसनसोल जाना, चंपा से संपर्क, निर्मला के संपर्क से पढ़-लिख कर नए जीवन का आरंभ आदि घटनाएँ परस्पर सामने आती है। चंपा के जीवन परिवर्तन की घटनाएँ अर्थात् जीवन का रहस्य, उसके मन में उभरते विचारों के माध्यम से व्यक्त हुआ है। कुछ घटनाएँ जैसे दिवाकर शास्त्री से संबंधित बातें मुख्य कथा का अंग तो नहीं है पर उससे समाज का यथार्थ हमारे सम्मुख उभरकर सामने आता है। उपन्यास का प्रत्येक पृष्ठ सामाजिक अनाचार और शोषण, वर्ग-वैषम्य, सामाजिक गतिशीलता के यथार्थ चित्रणों से भरा पड़ा है। विषम परिस्थितियों में उन्होंने नारी जीवन को प्रगतिशील दृष्टिकोण से चित्रित किया है और उसे आर्थिक रूप से स्वावलंबी बनाने में उसकी हर संभव मदद करने का प्रयास किया है।

(1.6.8)हीरक जयंती या अभिनन्दन (1962)

हीरक जयंती नागार्जुन का राजनैतिक भ्रष्टाचार को अभिव्यक्त करने वाला सशक्त लघु उपन्यास है; जिसमें भ्रष्ट नेतृत्त्व पर कटु व्यंग्य किया गया है। इस उपन्यास में लेखक ने राजनैतिक स्तर पर मचे हुए भ्रष्टाचार, घूसखोरी और पाखंड की पोल खोली है। देश के नेता किस प्रकार जनता जनार्दन के सेवा के नाम पर अपने स्वार्थों की पूर्ति कर रहे हैं, इस बात को बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया गया है। रचना स्थान पर चलने वाले हीरक जयंतियों के समारोह मात्र स्वहित के लिए कैसे आयोजित किए जाते हैं इसका यथार्थ चित्रण नागार्जुन ने अपनी कृति में किया है।

(1.6.9)उग्रतारा (1963)

'उग्रतारा' उपन्यास एक नारी की संघर्ष की कहानी है। नागार्जुन की संवेदना में शोषित वर्ग की प्रतिबद्धता ही प्रमुख रही है। गरीब, किसान, मजदूर, दलित, मछुआरे और स्त्रियाँ नागार्जुन के संवेदना के केंद्र में रहे हैं। स्त्रियों का शोषण दुनिया के हर कोने में, हर धर्म में और हर वर्ग में होता आया है। नागार्जुन जैसे उपेक्षितों और शोषितों के पक्षधर से स्त्री यह शोषित वर्ग अछूता रहना संभव न था। स्त्रियों के दुख-दर्द को व्यक्त करने के लिए उन्होंने 'उग्रतारा' उपन्यास का

सृजन किया है। इसमें अपने विचारों की परिपक्वता, स्पष्टता तथा स्त्री जीवन की त्रासदी को व्यक्त करते हुए उसे यातना से मुक्ति देने के लिए विचार व्यक्त किया है।

विधवा जीवन भारतीय समाज में नारी जीवन की बहुत बड़ी त्रासदी थी। आज से डेढ़-दो सौ साल पहले तो विधवा को सती के रूप में जलाना श्रेष्ठ समझा जाता था। उसका धार्मिक उत्सव मनाया जाता था। ऐसी अमानवी प्रथा के विरुद्ध राजा राममोहन राय ने आवाज उठाई, लेकिन विधवा के मानवी अधिकार नकारे गए। इस नकार के विरुद्ध जिन लोगों ने विचार रखे उनमें नागार्जुन का नाम लेना आवश्यक है। उग्रतारा उपन्यास में उन्होंने यहीं विचार रखे हैं। इस उपन्यास में नागार्जुन विधवा और फिर संकट में पड़ी गर्भवती विधवा का विवाह कराकर, जनवादी दृष्टिकोण से इस समस्या का बहुत बड़ा समाधान प्रस्तुत करते हैं और समाज को नई दिशा दिखलाते हैं।

(1.6.10)इमरतिया या जमनिया का बाबा (1968)

जमनिया का बाबा नागार्जुन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। भारतीय साहित्य में इस विषय को लेकर बहुत कम लिखा गया है। यह उपन्यास 1968 में छपा। उसी वर्ष यह उपन्यास इमरतिया शीर्षक से भी छपा। जमनिया का बाबा और इमरतिया ये दोनों ही इस उपन्यास के पात्र हैं। शिल्प की दृष्टि से जमनिया के बाबा में नागार्जुन ने एक अनोखा प्रयास किया है। इस उपन्यास में बाबा, मस्तराम, इमरतिया, भगौती, इमरतिया, मस्तराम और बाबा इन सात शीर्षकों से इसी क्रम से सात अध्याय हैं। इमरतिया शीर्षक उपन्यास में यही सात अध्याय इमरतिया, मस्तराम, बाबा भगौती, बाबा, मस्तराम और इमरतिया इन क्रमों से प्रकाशित हुए हैं। इन दो शीर्षकों से प्रकाशित ये उपन्यास एक ही हैं। अध्यायों के क्रम बदलने के बावजूद कथा के अर्थ संप्रेषण में कोई बाधा नहीं पहुँचती। कथा क्रमानुसार बनी रही है। उपन्यासकार नागार्जुन का यह श्रेष्ठता और सफलता है। इस उपन्यास में रचनाकार ने धर्म के बहाने चलने वाले कारनामों को और भोली-भाली जनता के धार्मिक अंधविश्वासों को अभिव्यक्त किया है।

निष्कर्ष रूप से नागार्जुन के जीवन वृतांत पर दृष्टि डालने के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि उनका व्यक्तित्त्व विभिन्न जीवनानुभूतियों का ऐसा तेज पुंज है जिसकी यथार्थ और समग्र

अभिव्यक्ति उनके साहित्य में हुई हैं। उन्होंने जीवन को जिस रूप में देखा, जाना और समझा है उससे उनके व्यक्तितत्व और कृतित्व का सृजन हुआ है। जीवनगत यथार्थों की विसंगतियों का तीव्र ललकार भरा खंड और व्यंग प्रहार उनके व्यक्तितत्व और कृतित्व की मूल प्रवृत्तियाँ हैं।

अध्याय को आगे बढ़ाते हुए आंचलिकता की बात की गयी है।आंचलिकता की चर्चा करते हुए आंचलिक उपन्यास और नागार्जुन के उपन्यास में आंचलिक तत्त्व की चर्चा की गयी है। आंचलिक उपन्यास अंचल विशेष की जन-जीवन की भाषा, वेशभूषा, धार्मिक विश्वास, भौगोलिक स्थिति, राजनीतिक महत्त्व, नदियों जंगलों,पेड़-पौधे, भूमि की बनावट और परिवर्तन, फासले और उनसे वहाँ के जन-जीवन का संबंध, बदलते हुए सामाजिक मूल्यों आदि का विश्लेषण रहता है। नागार्जुन के उपन्यासों में इन सभी तत्त्वों का समावेश हुआ है।

अध्याय में नागार्जुन के समस्त उपन्यासों का विवरण देते हुए यह बात समझ में आई कि नागार्जुन के उपन्यास आंचलिक-संस्पर्श के साथ वैश्विक हैं। नागार्जुन की कथाएँ पढ़ कर न केवल मानवीय संवेदनाओं का पता चलता है वरन वे अनेक सूचनाएँ भी देते चलते हैं। जैसे 'रतिनाथ की चाची' में वे बताते हैं, कि जयनगर से जनकपुर तक नेपाल सरकार ने अपनी रेल खोल रखी है। वे मैथिली संस्कृति के अनेक बेहतर पक्ष को भी सामने लाते हैं। वहाँ आम कितने प्रकार के होते हैं, इसकी भी जानकारी उनकी कोई कथा दे जाती है। नागार्जुन की कहानी पढ़ कर ही पता चला कि बिकौआ नामक कोई प्रवृत्ति होती है। यह बिकौआ तथाकथित कुलीन समाज में पाया जाता है और अनेक शादियाँ कर सकता है। ससुराल में ही रहता है और मौज करता है। नागार्जुन बताते हैं कि आज भी मैथिल ब्राह्मणों में बिकने वाले बिकौआ दिखाई पड़ जाते हैं। वैसे तो यह प्रथा अब मर चुकी है; मगर यह जानकर हैरत होती है कि हमारे समाज में ऐसे लोग भी रहे हैं। यह नागार्जुन की कथाओं का यही कमाल है कि वे केवल कथा भर नहीं कहते, वे अपने समय के सामाजिक प्रामाणिक तथ्यों से भी अवगत कराते चलते हैं। मुझे लगता है, कि भारतीय और खास कर मिथिला के लोकजीवन के सच को समझना हो तो किसी इतिहास की पुस्तक को खंगालने की बजाय हमें नागार्जुन का साहित्य पढ़ लेना चाहिए। नागार्जुन की कथाओं में एक तरह से इतिवृत्तात्मकता भी है। यह खासियत नागार्जुन को अपने तमाम समकालीनों से अलग करती है।

नागार्जुन हिंदी साहित्य में विशेष रूप से दलित वर्ग के प्रति संवेदनशील हैं, और किसान, मजदूर, नारी और अछूतों के प्रति मार्मिक संवेदना और समस्या समाधान तथा शोषक अत्याचारी वर्ग के प्रति तीव्र विरोध उनकी प्रगतिवादी एवं जनवादी विचारधारा की देन है।उन्होंने बहुत सारी साहित्य कृतियाँ साहित्य जगत को प्रदान की है। मौलिक साहित्य के अतिरिक्त अनूदित साहित्य में भी उनकी अपनी विशिष्ट मौलिकता के दर्शन होते हैं। नागार्जुन के काव्य जगत की तरह ही कथा

जगत भी जीवनानुभवों पर निर्मित है। उनकी कृतियों में पीड़ित जनता के दुखों की आवाज है। वे उदार एवं फक्कड़ मानव, रूढ़ियों और जड़ परंपराओं के विरोधी, बहुश्रुत, बहुभाषी, ज्ञानी, प्रगतिशील विचारक, श्रेष्ठ अनुवादक और संपादक थे।

वस्तुतः नागार्जुन का ज्ञान पांडित्यपूर्ण न होकर जीवन के अनुभवों पर आधारित रहा है। इस तरह साहित्य, साहित्यकार और साहित्यिक चर्चा में ही नागार्जुन की साधना, निवास और जीवनोद्‌देश्य लक्षित है।

द्‌वितीय अध्याय

समाजभाषाविज्ञान : सैद्‌धांतिकी

❖ समाजभाषाविज्ञान की सैद्धांतिकी

2.1 भाषाविज्ञान और समाजभाषाविज्ञान

2.2 समाजभाषाविज्ञान

2.2.1 भाषायी समाज

2.2.2 भाषा और बोली

2.2.3 प्रयुक्ति

2.2.4 व्यक्ति-बोली, समाज-बोली, क्षेत्रीय-बोली

2.2.5 लिंग्वाफ्रेंका

2.2.6पिजिन और क्रियोल

पिजिन

लिंग्वाफ्रेंका और पिजिन में अंतर

क्रियोल

क्रियोल और पिजिन में अंतर

2.2.7 बहुभाषिकता

2.2.8 कूट-मिश्रण और कूट-अंतरण

कूट-मिश्रण

कूट-अंतरण

2.2.9 भाषा-विकल्पन

समाजभाषाविज्ञान की सैद्धांतिकी

2.1 भाषाविज्ञान और समाजभाषाविज्ञान

आधुनिक युग वैज्ञानिक अध्ययन में रूचि रखने वाला युग है। इससे पहले विचारकों और चिंतकों ने विविध विषयों का विवेचन-विश्लेषण किया। किन्तु आधुनिक युग में कई नए विषय समाज विज्ञान, मनोविज्ञान, इतिहास आदि प्रकाश में आए। इसी क्रम में भाषाओं के अध्ययन के लिए 'भाषाविज्ञान' नामक विषय का भी श्रीगणेश हुआ। भाषाविज्ञान भाषाओं के विवेचन-विश्लेषण का एक व्यवस्थित और विश्वसनीय आधार देता है, जिससे विश्व की भाषाओं का एक सर्वमान्य व्याकरण तैयार किया जा सके। पश्चिम में भाषा अध्ययन अनुशीलन की परंपरा लगभग दो हजार वर्ष पुरानी है। भारत में इसकी शुरुआत वैदिक काल से मानी जाती है। इन परंपराओं में भाषा-अध्ययन की अनेक प्रणालियाँ रही हैं। इसमें वर्णनात्मक भाषाविज्ञान, ऐतिहासिक भाषाविज्ञान, तुलनात्मक भाषाविज्ञान, संरचनात्मक भाषाविज्ञान, प्रायोगिक भाषाविज्ञान और समाज भाषाविज्ञान प्रमुख हैं। आधुनिक समय में भाषा अध्ययन की दो प्रणालियाँ प्रचलित है। पहली प्रणाली के अंतर्गत भाषा के अध्ययन में उसके आंतरिक पक्षों के विश्लेषण पर बल दिया जाता है, अर्थात भाषा का अध्ययन सिर्फ भाषा की सरंचना और स्वरूप को व्याख्यायित करने के लिए किया जाता है।भाषा अध्ययन की इस शाखा को 'भाषाविज्ञान' कहा जाता है। इस प्रणाली में इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि भाषा अपने आप में क्या है? यहाँ भाषा की संपूर्ण व्याख्या व्याकरणिकसिद्धांतों के आधार पर की जाती है।

जैसे - 'मैं वहाँ जाता हूँ'

इस वाक्य का विश्लेषण अगर भाषाविज्ञान के अंतर्गत किया जाए तो कहेंगें की 'मैं' पुरुषवाचक सर्वनाम है। 'वहाँ' स्थान विशेष का सूचक है। 'जाता हूँ' क्रिया है। यही इस वाक्य की व्याकरणिक व्याख्या है। इस व्याख्या में वाक्य के सामाजिक संदर्भों पर ध्यान नहीं दिया गया है।

भाषा अध्ययन की दूसरी प्रणाली में भाषा को संप्रेषण का मूल आधार माना जाता है। यहाँ भाषा का अध्ययन, अनुशीलन संप्रेषणीयता को केंद्र में रखकर किया जाता है। अभिप्राय यह है कि इस

प्रणाली में भाषा के सामाजिक पक्ष पर विशेष बल दिया जाता है। भाषा-अध्ययन की इस प्रणाली को 'समाजभाषाविज्ञान' नाम से अभिहित किया जाता है। समाजभाषा वैज्ञानिक रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव के अनुसार "भाषा एक समाज सापेक्षिक प्रतीक व्यवस्था है। इस प्रतीक व्यवस्था के मूल में सामाजिक तत्त्व निहित होते हैं।"[8] समाज और भाषा के अंत:संबंधों के अध्ययन की एक और प्रणाली विकसित है जिसे भाषा का समाजशास्त्र कहा जाता है।

रोनाल्ड वर्धौघ ने अपनी पुस्तक 'An Introduction to Sociolinguistics' में कौलमस (Columns) के हवाले से लिखा है कि-'समाजभाषाविज्ञान और भाषा का समाजशास्त्र के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं है। क्योंकि दोनों ही भाषा और समाज के अंत:संबंधों को ही व्याख्यायित-विश्लेषित करते हैं। इनके बावजूद कुछ ऐसे पक्ष भी हैं जहाँ पर अंतर है। इस अंतर को कौलमस micro और macro के रूप में देखते हैं।'[9] रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने भाषा के समाजशास्त्र को स्पष्ट करते हुए लिखा है - "भाषा के समाजशास्त्र में भाषा के उन सवालों का अध्ययन करते हैं जिनका संबंध समाज एवं उनके संस्थानों से होता है। भाषा सिर्फ विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं होती, बल्कि स्वयं में वह कथ्य भी है जो सामाजिक अस्मिता के प्रश्नों से जुड़ी होती है। जैसे किस भाषा को राजभाषा बनाया जाय, किसे शिक्षा की माध्यम भाषा के रूप में। भाषा को सामाजिक प्रतीक मानकर इसका विवेचन-विश्लेषण किया जाता है। यह भाषा और समाज की संकल्पना को एक दुसरे के घात-प्रतिघात के रूप में देखता है।"[10] समाजभाषाविज्ञान में भाषा और समाज के अंत:संबंधों एवं सन्दर्भों की व्याख्या वक्ता के परिवेश, संस्कार, जाति, धर्म, वर्ण, लिंग, उम्र, पद, पेशा आदि सामाजिक सन्दर्भों के आधार पर की जाती है।

वस्तुतः भाषाविज्ञान और समाज भाषाविज्ञान में भिन्नता कई स्तरों पर है। भाषाविज्ञान भाषा का अध्ययन भाषाको केंद्र में रखकर करता है। यह विज्ञान भाषा की आंतरिक व्यवस्था पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है। जबकि समाजभाषाविज्ञान भाषा का अध्ययन उसकी संप्रेषणीयता को केंद्र में रख कर करता है। भाषाविज्ञान भाषा की महत्तम इकाई 'वाक्य' को मानता है जबकि समाजभाषाविज्ञान की महत्तम इकाई 'प्रोक्ति' होती है। भाषाविज्ञान अपने अध्ययन में कथ्य और अभिव्यक्ति के संबंधों की व्याख्या करता है। उसकी सामग्री व्याकरण है। व्याकरण के आधार पर ही वह भाषा की प्रकृति का अंदाजा लगाता है। समाज भाषाविज्ञान सिर्फ व्याकरण ही नहीं अपितु भाषा के सभी अंगों और सन्दर्भों का अध्ययन करता है। भाषाविज्ञान की प्रकृति भाषिक

नियमों के खोज पर आधारित है इसीलिए वह मनुष्य के भाषिक व्यवहार को नियमसम्मत मानता है। इसके विपरीत समाजभाषाविज्ञान भाषा प्रयोगों के नियमों की खोज करता है, अर्थात् उसमें देखा जाता है कि परिवार में सब एक दूसरे से कैसे बात करते हैं; परस्पर सामाजिक संबंधों के अनुसार मनुष्य एक दूसरे से किस तरह से वार्तालाप करते हैं उसका विश्लेषण करना समाजभाषाविज्ञान का प्रमुख उद्देश्य रहता है।

भाषाविज्ञान और समाजभाषाविज्ञान में बहुत सारी समानताएँ भी है और असमानताएँ भी है।चूँकि समाजभाषाविज्ञान को समझने के लिए इन दोनों के प्रत्येक पहलू को समझना अत्यंत आवश्यक है इसलिए उपर्युक्त विवरण के माध्यम से हमने इसे समझने का प्रयास किया है।

2.2 समाजभाषाविज्ञान की सैद्धांतिकी

भाषा सामाजिक सरंचना को बनाए रखने वाला एक प्रमुख और सबल माध्यम है। इसमें सामाजिक व्यवहार की समस्त आधारभूत इकाइयाँ अंतर्निहित होती है। सामाजिक व्यवहार की संपूर्ण अभिव्यक्ति ही किसी भी भाषा के वैभव का प्रतीक होती है।अनेक शोध-कार्यों एवं अध्ययनों से यह पुष्ट हो चुका है कि भाषा समाज सापेक्षिक होती है। समाज एक विकसनशील इकाई है। हजारों वर्षों के मानव विकास के इतिहास में समाज, विकास के अनेक चरणों से गुजरते हुए, आज वैश्वीकरण के चरम अवस्था पर पहुँच चुका है। विश्व-ग्राम की अवधारणा आज का सर्वप्रचलित एवं मान्य समाज दर्शन बन चुका है।ऐसी स्थिति में कोई भाषा किसी एक समाज की नहीं रह गयी है और न ही कोई एक समाज किसी एक भाषा के अंदर सीमित रह गयी है। ऐसे में समाज के ऊपर भाषिक दबाव और भाषा के ऊपर सामाजिक दबाव बढ़ा है।इस दबाव ने दोनों को अनेक रूपों में परिवर्तित, परिवर्धित और प्रभावित किया है। सामाजिक और भाषिक दवाब के कारण दोनों के स्वरूप में जो परिवर्तन हुए हैं उससे पठन-पाठन के नए आयाम भी विकसित हुए हैं।

1960 ई. के आस पास भाषाविज्ञान की नई शाखा का उदय हुआ जिसे हम समाज-भाषाविज्ञान कहते हैं। यह अध्ययन क्षेत्र भाषा को उसके सामाजिक सन्दर्भों में देखता परखता है। इस शाखा

के विकास में पाश्चात्य देशों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। फिर भी पतंजलि ने लगभग 2000 वर्ष पूर्व ही 'महाभाष्य' और आगे चलकर भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यदीप' में भाषा की सामाजिकता का विवेचन किया है। 'वाक्यदीप' के 'प्रकरण' अध्ययन में भाषा की सामाजिकता पर बल देते हुए कहा गया है कि किसी वाक्य या कथन का अर्थ केवल उसके बाह्य रूप से नहीं, बल्कि उसके संदर्भ, परिस्थिति, देशकाल और पात्र द्वारा भी निर्देशित होता है। यही अवधारणा समाज भाषाविज्ञान की आधारशिला के रूप में आज मौजूद है।

पाश्चात्य अध्ययन में समाजभाषाविज्ञान (Sociolinguistic) शब्दावली का प्रयोग सर्वप्रथम 1939 में थॉमस सी. हडसन के द्वारा एक लेख 'Sociolinguistics in India'में किया गया। आगे चलकर नाइडा ने अपनी पुस्तक 'Morphology'में 1949 में किया। समाजभाषाविज्ञान की शुरुआत जाने-अनजाने में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही हो चुकी थी। 1870 के आसपास जर्मनी के कुछ भाषा वैज्ञानिकों ने यहाँ की बोलियों का अध्ययन आरंभ किया। अध्ययन के दौरान उन्होंने पाया कि स्थान के परिवर्तन के साथ-साथ बोलियों में भी परिवर्तन होता जाता है। यह परिवर्तन ध्वनि, स्वनिम, शब्द आदि भाषिक इकाइयों में दिखाई पड़ा। इससे इन्होंने यह निष्कर्ष दिया कि भौगोलिक परिवेश का प्रभाव भाषा या बोली पर पड़ता है। यही से पठन-पाठन का एक नया अनुशासन बोलीविज्ञान का आरंभ हुआ। बोलीविज्ञान को ही समाजभाषाविज्ञान का प्रस्थान बिंदु माना जाता है। भाषा और बोली का स्वरूप समाज की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक परिस्थिति पर निर्भर करता है। सामाजिक संपर्क का भाषा की सरंचना के परिवर्तन और परिवर्धन में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आगे चलकर फर्गुसन, हैलिडे, पीटर स्ट्राक वेल, राजेन्द्र मेस्त्री, डेल हेम्स आदि विद्वानों ने इस अनुशासन को विकसित किया।

समाजभाषाविज्ञान विवरणात्मक भाषा विज्ञान की एक शाखा है। यह वह पद्धति है, जो भाषा और समाज के बीच पाए जाने सभी प्रकार के संबंधों का विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करती है। इसके अंतर्गत भाषा की सरंचना और प्रयोग के उन सभी पक्षों एवं संदर्भो का अध्ययन किया जाता है; जिसका संबंध सामाजिक और सांस्कृतिक प्रकार्य या गतिविधियों के साथ होता है। अत: इसके अध्ययन क्षेत्र के भीतर विभिन्न सामाजिक वर्गों की भाषिक अस्मिता, भाषा के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण एवं अभिवृद्धि, भाषा की सामाजिक शैलियाँ, बहुभाषिकता सामाजिक आधार, भाषा नियोजन आदि भाषा अध्ययन के वे सभी संदर्भ आ जाते हैं जिनका संबंध समाज एवं सामाजिक संस्थानों से हैं। भाषा और समाज के अंत:संबंधों को समझने के लिए भाषा और

समाज की आवधारणा को ठीक-ठीक समझाना होगा। रोनाल्ड वार्थो ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है - "कुछ व्यक्तियों का ऐसा समूह जो किसी उद्देश्य के लिए एक साथ रहते हैं; वह समाज है और किसी समाज द्वारा जो सम्प्रेषण के माध्यम के रूप में प्रयोग किया जाता है; वह बोली या भाषा है।".[11]

भाषा और समाज के अंत:संबंधों की परख करने वाला समाजभाषाविज्ञान अपने सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य और अध्ययन पद्धति में विशिष्ट प्रकृति का है। इस अध्ययन पद्धति का मानना है कि भाषा, समाज सापेक्ष प्रतीक व्यवस्था है, इस प्रतीक व्यवस्था के अंदर ही सामाजिक तथ्य स्वाभाविक रूप से निहित रहते हैं। अत: समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन में भाषा को शुद्धभाषिक प्रतीकों की व्यवस्था नहीं माना जाता, बल्कि इस अध्ययन में भाषा को सामाजिक प्रतीकों की एक उपव्यवस्था के रूप में व्याख्यायित किया जाता है। उदाहरण स्वरूप हम एक व्यक्ति को कहते हैं कि- 'आप क्या खायेंगे?' और दूसरे व्यक्ति को कहते हैं कि- 'तू क्या खायेगा?' यहाँ 'आप' और 'तू' में से किसी एक का प्रयोग का चयन और उस चयन के पीछे का निर्धारक तत्त्व भाषा प्रयोग का सामाजिक बोध ही है। समाज के इन्हीं संबंधों का विश्लेषण समाजभाषाविज्ञान में होता है।

इस प्रकार देखा जाए तो समाज और भाषा एक दूसरे के पूरक है, परंतु भाषा और समाज के अंत:संबंधों के और भी अनेक आयाम हैं जिनका अध्ययन समाजभाषाविज्ञान के अंतर्गत किया जाता है। उदाहरणस्वरूप किसी एक समाज के होते हुए भी हर व्यक्ति अपने आप में भिन्न है। अर्थात् सामाजिक एकरूपता के बावजूद वैयक्तिक स्तर पर विविधता दिखाई पड़ती है। इसके कारण समाज में भाषा के स्तर पर अनेकरूपता दिखाई पड़ती है। यही कारण है कि समाज के एक होने पर भी भाषिक स्तर पर बहुरूपता दिखाई पड़ती है और समाज बहुभाषिक हो जाता है।

आधुनिक समय में बहुभाषिकता ने 'भाषा अध्ययन' को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है। इससे भाषा विकल्पन की संभावनाएं बढ़ी हैं। भाषा-विकल्पन ने भाषा अध्ययन के अनेक आयामों को जन्म दिया है। फलस्वरूप भाषा अनुशीलन के अनेक पारिभाषिक गढ़े गए मसलन भाषायी समाज, बहुभाषिकता, पिजिन, क्रियोल, कोड-मिक्सिंग, कोड-स्विचिंग, लिंग्वाफ्रेंका, भाषा-विकल्पन, डायग्लोसिया, व्यक्ति-बोली, समाज-बोली इत्यादि। इन सभी का अध्ययन समाजभाषाविज्ञान के अंतर्गत किया जाता है।

समाजभाषाविज्ञान की अनेक संकल्पनाएँ हैं जो समाज और भाषा के संबंधों को विश्लेषित करती हैं, पर साहित्य के समाजभाषावैज्ञानिक विश्लेषण के लिए भाषायी समाज, व्यक्ति-बोली, समाज-बोली, कूट-मिश्रण, कूट-अंतरण, बहुभाषिकता, भाषा- विकल्पन, प्रयुक्ति इत्यादि मानदंडों का प्रयोग किया जाता है। चूँकि समाजभाषाविज्ञान की अवधारणा को समझने में भाषा, बोली, पिजिन, क्रियोल, लिंग्वाफ्रेंका आदि को समझना जरूरी है इसलिए इसका भी परिचयात्मक विवरण इस अध्याय में दिया गया है।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार कह सकते है कि समाजभाषाविज्ञान का अध्ययन भाषा की स्थिति को समझने के लिए एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन है। समाजभाषाविज्ञान भाषा के उन समस्त परिप्रेक्ष्यों को उजागर करता है जिस से भाषा के परिवेश का पता चलता है। किसी भी साहित्यिक रचना के लिए उसकी भाषा अत्यंत महत्त्वपूर्ण होती है और उस साहित्यिक रचना की भाषा के विश्लेषण के लिए समाजभाषाविज्ञान का ज्ञान होना जरूरी है। इस क्रम में समाजभाषाविज्ञान के समस्त मानदंडों का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है।

(2.2.1) भाषायी समाज

मनुष्य भाषा का व्यवहार समाज में सामाजिक संबंधों के लिए करता है। प्रत्येक भाषा क्षेत्र का अपना एक भिन्न समाज होता है, और मनुष्य अपने आस-पास के समाज और परिवेश से ही भाषा सीखता है। यह भाषाप्रेम समाजसापेक्ष होता है और उसकी भाषा भी समाज के भीतर ही प्रभावी होती है। इसीलिए भाषा का अध्ययन समाज के सन्दर्भों के बगैर अधूरा रहता है। समाज में रहते हुए भाषा के बिना कोई गति नहीं होती है।भाषा ही मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने का सबसे बड़ा प्रमाण है और यह भी सत्य है की भाषा के सहयोग से ही समाज का निर्माण होता है। भाषा चाहे जो भी हो उसका सदैव एक दुहरा चरित्र होता है।

समाज जैसे पारिभाषिक शब्द का विवेचन-विश्लेषण भाषा के परिप्रेक्ष्य में समाजभाषाविज्ञान में किया जाता है। सामान्यत: समाज ऐसे लोगों का समूह है जो किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए मिल-जुलकर एक साथ रहते हैं। भाषा के संदर्भ में जहाँ तक समाज का प्रश्न है तो भाषा के बिना समाज और समाज के बिना भाषा की संकल्पना ही नहीं की जा सकती। भाषा वह है जिसे एक खास भाषा-समाज के सदस्य बोलते है। इससे यह तय है कि भिन्न-भिन्न समाजों की भिन्न-भिन्न भाषाएँ होती है। भाषा जब समाज में प्रयुक्त होती है तो वह भाषेतर उपादानों के अनुसार कई रूप ग्रहण करती है। इसके साथ हमें यह भी ज्ञात है कि भाषा समाज को और समाज भाषा की निरंतर प्रभावित करती है, इसी कारण से भाषा की परिभाषा में समाज का संदर्भ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। सामाजिक सरंचना भाषा सरंचना या भाषिक व्यवहार को निर्धारित और नियंत्रित करती है।

भाषा एक अर्जित संपत्ति है और व्यक्ति इसका अर्जन समाज से करता है। भाषा का पूर्वापर संबंध भी समाज से ही होता है, इसलिए भाषा एक सामाजिक संस्था है। भाषा से समाज को एक व्यवस्था मिलती है। व्यक्ति की भाषा समाज के अनुकूल होती है। अगर हम अंग्रेजी समाज के नागरिक हैं, तो हमारी भाषा भी अंग्रेजी होगी। भाषा का प्रधान उद्देश्य ही सामाजिक व्यवहार है। अकेले व्यक्ति को भाषा की जरुरत ही नहीं होती, जहाँ समाज होता है वहीं भाषा होती है। समाज में परस्पर व्यवहृत होने से भाषा का विकास होता है। बच्चा जन्म से ही भाषा नहीं सीख लेता। वह जिस समाज में रहता है उसी की भाषा को धीरे-धीरे वह व्यवहार रूप में सीखता है। समाज से दूर रखे गये बच्चे समाज विशेष की भाषा से भी दूर हो जाते हैं । डॉ. कपिलदेव द्वेदी के अनुसार "भाषा का सामाजिक पक्ष ही प्रमुख है। सामाजिक परिवेश में आकर ही भाषा का रूप निखरता है।" भाषा के सामाजिक रूप को ही सस्युर ने लांग (langue) नाम दिया है। इसके लिए अंग्रेजी में टंग (tongue) शब्द प्रचलित है। इसको समष्टि वाक् कहा जा सकता है। भाषा का यह सामाजिक पक्ष ही है जो चिरन्तन होते हुए भी विकसनशील है, सनातन होते हुए भी नित नवीन है, प्रतिक्षण परिवर्तित होते हुए भी अनश्वर और शाश्वत है। व्यक्तिगत परिवर्तन भाषा के किसी एक अंश को ही प्रभावित कर सकते है। सामाजिक पक्ष में ही आदान-प्रदान की प्रक्रिया चलती है। भाषा समाज को और समाज भाषा को परस्पर संस्कार देते हुए आगे बढ़ते हैं।

दुनिया के प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक भाषायी पहचान होती है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और भाषा एक समाज सापेक्षिक प्रतीक व्यवस्था। इसीलिए किसी भी व्यक्ति की सामाजिक

पहचान के साथ-साथ उसकी भाषायी पहचान भी होती है। यह भाषायी पहचान भाषाविज्ञान में भाषायी समाज के रूप में अभिव्यक्त होती है। इसकी परिभाषा अनेक विद्वानों ने अलग-अलग तरीके से दी है। डॉ. भोलानाथ तिवारी लिखते हैं- "भाषायी-समाज ऐसे समाज को कहते हैं, जिसके सदस्य विचारों की अभिव्यक्ति करने तथा अभिव्यक्त के माध्यम से विचारों को समझने की दृष्टि से आपस में बंधे होते हैं।"[12]रोमेने सुजेन का मानना है कि 'भाषायी समाज लोगों का ऐसा समूह है जो किसी एक भाषा की साझेदारी अपने वार्तालाप में नहीं करता बल्कि किसी एक भाषा के नियमों को साझा करता है। इस प्रकार भाषायी समाज का यह सीमांकन भाषागत से ज्यादा समाजगत है। अर्थात् समाज की भाषिक प्रवृत्ति पर निर्भर है।"[13]

इन तथ्यों के आलोक में विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि 'भाषायी समाज' लोगों के ऐसे समूह को कहते हैं, जो विचार विनिमय के लिए एक खास तरह के भाषायी नियमों या भाषा-रूप का प्रयोग करते हैं। ऐसा संभव हैं कि इसमें अन्य भाषा के शब्द भी हों; परंतु उसका अर्थ उस समुदाय के भाषायी संस्कार के अनुरूप होता है। इस प्रकार के भाषायी समूह के मुहावरे, लोकोक्ति एवं सांस्कृतिक शब्दावली अपने आप में विशिष्ट और विलक्षण होते हैं, जो अन्यत्र अनुपलब्ध या अपूर्ण रूप में पाए जाते हैं। उदाहरणस्वरूप हिंदी की अनेक बोलियों को लिया जा सकता है। जैसे मैथिली, मगही, भोजपुरी, अंगिका, बज्जिका यह सभी बिहार के अलग-अलग क्षेत्रों में बोले जाने वाले भाषा के रूप हैं। इसके बोलने वाले भी एक खास क्षेत्र के हैं। ये सभी भाषाएँ थोड़ी कठिनाई के साथ आपस में समझी और बोली जाती हैं, बावजूद इसके ये सभी भिन्न भाषायी समुदाय के हैं। इनके बोलने वाले की एक विशिष्ट पहचान है। ये सभी मैथिली भाषायी समाज, मगही भाषायी समाज, अंगिका भाषायी समाज, बज्जिका भाषायी समाज के नाम से जाने जाते है। इसी प्रकार ब्रज, अवधी, पंजाबी की भी अपनी भाषायी समाज होती है। हर भाषायी समाज की अपनी-अपनी विशिष्टता होती है। यह विशिष्टता उन्हें एक दुसरे से अलग करती है। यह विशिष्टता ही उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा का कारण होती है। इन्हीं मानकों पर इनका वर्गीकरण किया जाता है। नागार्जुन के 'बलचनमा' उपन्यास में मूल रूप से हिंदी भाषायी समाज मैथिली, मगही, भाषायी समाज का चित्रण मिलता है। इसकी चर्चा आगे की जाएगी।

कुल मिलाकर भाषायी समाज समाजभाषाविज्ञान के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। किसी भी भाषा का अपना समाज उस भाषा के बारे में, उसकी संस्कृति के बारे में हमे बताता है। प्रत्येक मनुष्य की अपनी सामाजिक पहचान के साथ-साथ भाषायी पहचान भी होती है।

भाषायी पहचान भाषायी समाज से ही जुड़ी होती है। भाषायी समाज को समझने के लिए उस समाज की भाषा और बोली को समझना बहुत जरूरी है।

(2.2.2) भाषा और बोली

मनुष्य की आवश्यकताएँ कई प्रकार की होती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति अलग-अलग तरीके से होती है। इस पूर्ति की अभिव्यक्ति के लिए भाषा के अलग-अलग रूप प्रयुक्त होते है। रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव के अनुसार- "भाषा-बोली भेद का आधार वह भाषिक चेतना है, जिसकी प्रकृति संस्थागत है, इसीलिए इसमें भेद का कारण भाषावैज्ञानिक न होकर समाजभाषावैज्ञानिक होता है। प्राय: यह देखा गया है कि जातीय पुनर्गठन की सामाजिक प्रक्रिया के दौरान कोई बोली व्यापार, राजनीति या संस्कृति के कारण अन्य जनपदीय बोलियों की तुलना में विशेष महत्त्व प्राप्त कर लेती है, फलस्वरूप अन्य बोलियों के बोलनेवालों के बीच संपर्क-साधन का भी काम करने लगती है। बाद में चलकर अन्य बोलियों का प्रयोग करनेवाले व्यक्ति भी इस प्रतिष्ठित और संपर्क-साधन के रूप में प्रयुक्त बोली के साथ अपनी सामाजिक अस्मिता जोड़ने लगते हैं।"[14] इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि भाषा का गहरा संबंध सामाजिक अस्मिता, आवश्यकता और प्रतिष्ठा से है। यही तथ्य किसी भाषा को बोली और किसी बोली को भाषा का सम्मान दिलाता है। भाषा और बोली के बीच का मूल अंतर सामाजिक स्वीकृति, प्रतिष्ठा और आवश्यकता ही तय करता है।

भाषा और बोली में कोई खास मौलिक अंतर नहीं है, अंतर दोनों के व्यवहार क्षेत्र पर निर्भर करता है। वैयक्तिक विविधता के कारण समाज में बोली जाने वाली एक ही भाषा के कई रूप दिखाई देते हैं। बोली भाषा की सबसे छोटी इकाई है। इसका संबंध ग्राम या मंडल से रहता है। भाषा और बोली मूलत: क्या है? इनके बीच अंतर क्या है? इसको लेकर विद्वानों के अलग-अलग राय हैं। इन सभी विद्वानों ने एक मत से स्वीकार किया है कि भाषा और बोली में अंतर की कोई एक निश्चित विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा बोधगम्यता के आधार पर भाषा और बोली के बीच अंतर स्पष्ट करते हुए लिखते है- "एक भाषा की विभिन्न बोलियाँ बोलने वाले परस्पर एक दूसरे को समझ लेते हैं, किन्तु विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले एक दूसरे को नहीं समझते ... खड़ी बोली में 'मैं जाता हूँ' बोलने वाला ब्रज का 'जात है' अनायास

समझ लेगा, किन्तु अंग्रेजी का 'आई गो' नहीं समझ सकता। यह इसलिए की खड़ी बोली या ब्रज हिंदी की बोलियाँ हैं, पर हिंदी और अंग्रेजी दो अलग-अलग भाषाएँ।"[15] रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव भाषा और बोली में अंतर को स्पष्ट करने के लिए निर्मित बोधगम्यता के आधार को नकारते हैं। इनके अनुसार - "भाषा बोली के संबंधों पर विचार करते हुए कुछ विद्वानों ने बोधगम्यता के सिद्धांत को सामने रखकर यह संकेत दिया है कि भाषा और बोली में व्याकरणिक भेद तो होता है पर उतना नहीं कि उसके बोलने वाले एक दूसरे की बात समझ न सकें। इस दृष्टि से दो बोलियाँ जब परस्पर बोधगम्य न होगी तब दो भाषाएँ कहलाएगी। इसके विपरीत जब बोधगम्यता की स्थिति होगी तब वे एक ही भाषा के दो बोलियाँ कही जाएगी। चीनी भाषा की मान्य कई बोलियाँ (मंडारिन, पेकिंगिज) आपस में बोधगम्य नहीं हैं, क्योंकि इनके बोलने वाले एक दूसरे का बात नहीं समझ पाते, फिर भी वे एक भाषा की विभिन्न बोलियाँ हैं। इसके विपरीत फ्रेंच और इतालवी अपनी-अपनी भाषा में बात करते हैं और वो एक दूसरे की बात समझ भी लेते हैं, फिर भी जातीय इतिहास, साहित्य, संस्कृति एवं राजनीतिक आधार इन्हें दो भिन्न भाषा-भाषी बना देते हैं। इसी प्रकार मैथिली और ब्रज हिंदी की दो भिन्न बोलियाँ हैं, जबकि इनकी भाषिक सरंचना एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न है और इनके बोलने वाले एक दूसरे की बोली कठिनाई से समझ पाते हैं। इसके विपरीत हिंदी और पंजाबी दो विपरीत भाषाएँ हैं, जबकि इनकी भाषिक सरंचना में पर्याप्त समानता है और इसके प्रयोक्ता काफी आसानी से एक दूसरे की बात समझ लेते हैं।"[16] ऊपर के उद्धरण से ये निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भाषा-बोली भेद के लिए बोधगम्यता का आधार तर्कसंगत नहीं है। रवीन्द्रनाथ के इन तर्कों से सहमत हुआ जा सकता है। असल में किसी भाषा का बोली बनना और भाषा का बोली के रूप में स्थापित होना, उसके सामाजिक प्रयोगों एवं संदर्भ पर निर्भर करता है। यह प्रयोग और संदर्भ बहुआयामी हो सकते हैं जिस पर रोनाल्डो वार्थौ ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "भाषा से अभिप्राय किसी एक भाषायी नियम या एक तरह के नियमों सी प्रतीत होती बोलियों के समूह से है; जबकि बोलियाँ किसी एक तरह के भाषायी नियमों को दर्शाती हैं।"[17]

भोलानाथ तिवारी ने अपनी पुस्तक 'हिंदी भाषा की सामाजिक भूमिका' में भाषा के लिए मानकीकरण को मुख्य आधार माना है। मानकीकरण से अभिप्राय सहजता एवं एकरूपता से है जिससे प्रयोक्ता को बोलने या समझने में कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता है। भोलानाथ तिवारी ने भाषा के लिए ऐतिहासिकता, मानकीकरण, जीवंतता और स्वायत्ता लक्षणों को प्रमुख

माना है। किसी भी भाषा की मानकता के लिए इन चार तथ्यों का होना अनिवार्य है। बोली में ऐतिहासिकता और जीवंतता होती है लेकिन स्वायत्ता नहीं होती।"[18]

हडसन ने मानक भाषा के बारे में लिखा है -"standard language are interesting in as much as they have a special relation to society ...Standard languages are result of a direct and deliberate intervention by society."[19]

भाषा और बोली का संदर्भ एक दूसरे के बिना अपूर्ण है। किसी एक को ठीक-ठीक समझने के लिए दूसरे को समझना उसी तरह अनिवार्य है जैसे लांग को समझने के लिए पारोल को, एकालिक को समझने के लिए ऐतिहासिक को। भाषा-बोली के बीच का संबंध एक वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करता है।

उपर्युक्त विभिन्न विद्वानों के मतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसमें जो अंतर दिखाई पड़ता है उसका मूल कारण इसका सामाजिक संदर्भ और प्रयोग है। कुछ व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से करते है कुछ बोली से, अत: अभिव्यक्ति के स्तर पर इनमें कोई अंतर नहीं है। चूँकि भाषा मानकीकृत होती है, उसके स्वरूप में स्थिरता और एकरूपता होती है, इसलिए उसके प्रयोग को बोली की अपेक्षा ज्यादा महत्त्व दिया गया है। इसे वक्ता की प्रतिष्ठा से जोड़कर देखा जाता है। बोलियों के संदर्भ में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसका प्रयोग व्यक्ति अपनी आत्मीयता की अभिव्यक्ति के लिए करता है। कहने का अर्थ यह है कि संवेदना एवं आत्मीयता की पूर्ण अभिव्यक्ति और प्रकटीकरण मनुष्य के बोली(मातृभाषा) के माध्यम से ही हो पाती है। भाषा और बोली के भी कई रूप होते हैं जिसका आधार उसका सामाजिक प्रयोग होता है। भाषा को प्रयुक्तियों में विभाजित किया जा सकता है। उसी प्रकार बोली को व्यक्ति बोली, समाज बोली और क्षेत्रीय बोली में देखा जा सकता है।

(2.2.3) प्रयुक्ति

भाषा एक सामाजिक वस्तु है। व्यक्ति इसका प्रयोग एक सामाजिक सदस्य के रूप में करता है। व्यक्ति को समाज में कई भूमिकाएँ निभानी पड़ती है। संप्रेषण के लिए उसे भाषा की आवश्यकता पड़ती है। भाषा के प्रयोग पर आधारित प्रयोग को प्रयुक्ति कहते हैं। भाषा के प्रयोजन के आधार पर भेद होते हैं। विषयगत, संदर्भगत, भूमिकागत प्रयोगों के कारण भाषा

प्रयोग में अनेक भेद होते हैं, उन्हें भाषा विज्ञान के क्षेत्र में भाषा प्रयुक्ति कहते हैं। आज हिंदी सिर्फ साहित्यिक भाषा ही नहीं रह गयी है, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में उसकी प्रयुक्ति हो रही है। विज्ञान, पत्रकारिता, व्यवसाय, प्रशासन आदि के विभिन्न क्षेत्रों में हिंदी के विभिन्न रूपों का प्रयोग होता है।

भाषा अपने प्रयोग में विषमरूपी होती है। इसका प्रयोग और स्वरूप संदर्भ के अनुसार बदलता रहता है। मसलन कार्यालय में जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जाता है, वहीं भाषा किसी उत्सव या समारोह में प्रयुक्त नहीं होती। जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग मित्रों के साथ किया जाता हैं, उसी तरह का भाषा का प्रयोग माता-पिता या बुजुर्गों के साथ बात करते हुए नहीं करते। अभिप्राय यह है कि भाषा के विविध रूपों का प्रयोग प्रयोजन के आधार पर किया जाता है। इसी तरह अलग-अलग कामों में अलग-अलग भाषा अपनायी जाती है। भाषा का यह रूप उस कार्य की प्रतिबद्धता और आवश्यकता से जुड़ा होता है। भाषा की इसी कार्यपद्धति को प्रयुक्ति कहते हैं। हडसन ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है कि "रजिस्टर शब्द समाजभाषाविज्ञान में किसी विशेष तरह के कार्य से जुड़ी भाषा के लिए प्रयोग किया जाता है।"[20] रोनाल्डो वार्धो रजिस्टर के संदर्भ में अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि - "रजिस्टर एक खास तरह की भाषा है जो एक खास तरह के व्यवसाय से जुड़ी होती है। जैसे-चिकित्सक, बैंककर्मी, वायुयानचालक आदि की भाषा।"[21]

कहा जा सकता है कि हर व्यवसाय की अपनी प्रयुक्ति होती है और हर भाषा में कईं-कईं प्रयुक्तियाँ होती है; जो अपने प्रयोग में विभिन्न और विशिष्ट होती हैं। भोलानाथ तिवारी के अनुसार "किसी भाषा की विभिन्न प्रयुक्तियाँ पारिभाषिक दृष्टि से तो अलग-अलग होती हैं, कभी-कभी अपनी भाषिक सरंचना में भी अलग होती हैं।" उदाहरण के लिए कार्यालयी हिंदी को ही लें, कार्यालय में प्रयुक्त प्रशासनिक शब्दावली (जैसे - प्रभाग,अनुभाग,आवती,पावती) तो अन्य प्रयुक्तियों से अलग होती ही है, उसकी भाषिक सरंचना की भी यह विशेषता है कि उसमें निर्वैयक्तिक और कर्मवाच्य के वाक्य ही अपेक्षाकृत अधिक आते हैं, जैसे कि 'सर्वसाधारण को सूचित किया जाता है' न कि 'मैं सर्वसाधारण को सूचित करता हूँ।'

भोलानाथ तिवारी ने प्रयुक्तियों के तीन आधार विषय, अभिव्यक्त रूप और शैली बताया है। विषय अर्थात् प्रशासन में भाषा का रूप, विज्ञान में, सामाजिक व्यवहार में इत्यादि। अभिव्यक्ति

के रूप अर्थात लिखित या मौखिक माध्यम में तथा शैली का अभिप्राय रूढ़िगत, सामान्य, औपचारिक, अनौपचारिक आदि से है।

प्रयुक्ति भाषा के प्रयोग में बहुत अहम भूमिका निभाती है। भाषा का प्रयोग कहाँ किस तरह से होना चाहिए उसकी जानकारी बिना प्रयुक्ति के ज्ञान के हो ही नहीं सकती। इस तरह प्रयुक्ति भाषायी ज्ञान में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

(2.2.4) व्यक्ति बोली, समाज बोली, भाषायी बोली

किसी भी भाषा या बोली की सामाजिक एवं व्यावहारिक एकरूपता के बावजूद व्यक्तिगत स्तर पर थोड़ी विविधता होती है। यह विविधता व्यक्ति के ध्वनि से लेकर वाक्य-विन्यास तथा उसके बोलने के लहजे तक में दिखाई देती है। बोली या भाषा के इस रूप को 'व्यक्ति बोली' कहते हैं। मोहनलाल ने सर हार्केट के हवाले से लिखा है -"किसी निश्चित समय पर व्यक्ति विशेष का संपूर्ण वाग-व्यवहार उसकी व्यक्ति बोली है।"[22] व्यक्ति बोली सरंचनात्मक भाषा विज्ञान की संकल्पना है।इसका अच्छा उदाहरण टी.वी. पर कार्यक्रम पेश करने वाले ऐंकर की भाषा में देखा जा सकता है। जिस किसी भाषा या बोली में जितने वक्ता होते हैं, उसकी उतनी व्यक्ति बोली होती हैं, पर इसमें इतने बारीक अंतर होते हैं कि सामान्य व्यक्ति के लिए यह निर्धारित कर पाना मुश्किल होता है।

व्यक्ति बोली की तरह क्षेत्रीय बोली और समाज बोली होती है। क्षेत्र विशेष के कारण बोली में जो एकरूपता और विकल्पन देखने को मिलता है, वह क्षेत्रीय बोली कहलाती है। क्षेत्रीय बोली के रूप में पटना की हिंदी, बनारस की हिंदी, दिल्ली की हिंदी, हैदराबादी हिंदी आदि को देख सकते हैं। इसी प्रकार सामाजिक स्तर पर बोली में जो एकरूपता और विकल्पन दिखाई देता है उसे समाज बोली कहते हैं। उदाहरण के लिए शिक्षा के आधार पर शिक्षित समाज की भाषा, अशिक्षित समाज की भाषा। ऐसे ही धर्म के आधार पर भी बोलियों को देखा जा सकता है।

समाजभाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए व्यक्ति बोली, क्षेत्रीय बोली और सामाजिक बोली का ज्ञान बहुत ही जरूरी है। ये तीनों ही किसी भाषा को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण बिंदु हैं। इनके गहन अध्ययन के लिए हमें समाजभाषाविज्ञान के और मानकों को समझने के जरूरत है।

(2.2.5) लिंग्वाफ्रेंका (lingua franca)

मनुष्य की प्रवृत्ति समाज सापेक्षिक होती है।इसके सामाजिक होने की सिद्धि इसके भाषा व्यवहार में दिखाई पड़ती है। यह संभव है कि किसी भी समाज में एक से अधिक भाषा के लोग रहते हों। पर अलग-अलग भाषायी समाज में होने के कारण वे आपसी व्यवहार में एक ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं, जो सभी समझ सकते हैं। इसी संपर्क की भाषा को 'लिंग्वाफ्रेंका' कहा गया है। रोमन सुजेन के अनुसार 'लिंग्वाफ्रेंका एक प्राकृतिक संपर्क भाषा है, जो विविध भाषायी समाज के बीच संपर्क भाषा का काम करती है।'[23] जब भिन्न-भिन्न मातृभाषा भाषी एक दूसरे से संपर्क स्थापित करना चाहते हैं; तो माध्यम रूप में वे एक ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं, जो दोनों जानते हैं। ऐसी माध्यम भाषा का मूल उद्देश्य विचार विनिमय को सम्प्रेषणीय बनाना है।रोनाल्ड वार्थों ने लिखा है कि 'लिंग्वाफ्रेंका एक ऐसी भाषा है जो अलग-अलग मातृभाषा-भाषी के बीच आसानी से संपर्क साधने में आसानी होती है।'[24] लिंग्वाफ्रेंका को व्यावसायिक भाषा, संपर्क भाषा, अंतर्राष्ट्रीय भाषा, सहायक भाषा आदि नामों से अभिहित किया गया है। विश्व के हर कोने में इस तरह की भाषाएँ हैं। स्वहिली पूर्वी अफ्रीका में लिंग्वाफ्रेंका के रूप में प्रयुक्त होती है। भारत में इसके लिए हिंदी और अंग्रेजी का प्रयोग किया जाता है।

कुल मिलाकर लिंग्वाफ्रेंका भाषा का वह रूप है; जो दो अलग-अलग मातृभाषी समुदाय के परस्पर संपर्क के लिए बनाया गया है। लिंग्वाफ्रेंका एक संपर्क भाषा के रूप में काम करती है। दो अलग-अलग भाषायी समाज के लोग आपसी विचार-विनिमय के लिए लिंग्वाफ्रेका का प्रयोग करती है।

(2.2.6) पिजिन और क्रियोल

आधुनिकता के अनेक क्षेत्रों ने अध्ययन की अनेकानेक संभावनाओं को जन्म दिया। विज्ञान के विकास ने मनुष्य को करीब लाने की प्रक्रिया अत्यंत सरल कर दी। आपसी मेलजोल से भाषा की पुरानी और मान्य सरंचना को तोड़ा। आज यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि किसी भी समाज का प्रत्येक व्यक्ति द्विभाषिक या बहुभाषिक है। यातायात और जनसंपर्क के नवीन एवं अति नवीन साधनों के विकास ने लोगों को सामाजिक और भाषिक दोनों स्तरों पर जोड़ा है। बहुभाषिक व्यक्ति और समाज के आपस में जुड़ने से भाषाओं का विनिमय भी तीव्रता से हुआ

है। इस विनिमय के फलस्वरूप भाषा के अनेक रूप हमारे सामने आए हैं। पिजिन और क्रियोल इसी प्रकार के भाषा रूप हैं।

- **पिजिन**

पिजिन पर विचार करते हुए विश्वकोश में लिखा है कि 'पिजिन शब्द की उत्पति को लेकर अभी भी मत में भिन्नताएँ हैं। यह संभव है कि यह दक्षिण अमेरिका के शब्द pidginसे बना हो या अंग्रेजी अथवा पुर्तगाली शब्द बिजनेस का चीनी अपभ्रंश हो या इन दोनों का मिलने से उत्पन्न हुआ हो। पर इसका सामान्य अर्थ यह है कि यह एक ऐसी भाषा है जिसका प्रयोग अलग-अलग भाषा-भाषी आपसी संपर्क के लिए करते हैं।'[25]

इसकी उत्पति के संबंध में इस तरह के मत मुह्ल्हौसलर की पुस्तक 'Pidgin and Creole Linguistics'में भी मिलते हैं।[26] कुछ लोग इसे अंग्रेजी के बिजनेस शब्द का चीनी अपभ्रंश मानते हैं, तो कुछ पुर्तगाली शब्द acupacao(बिजनेस का चीनी भ्रष्ट रूप)। कुछ लोगों का मानना है कि पिजिन एक ऐसी दक्षिणी अमेरिकी और भारतीय भाषा का मिश्रित रूप है जो उपनिवेशवाद के समय में दासों के बीच भाषा व्यवहार के लिए प्रयुक्त होता था। इन विद्वानों के मतों पर विचार किया जाए तो यह धारणा बनती है कि यह एक ऐसी भाषा है जो सामाजिक और भाषिक दवाब के फलस्वरूप विकसित हुई है।इस संदर्भ में सबसे पहला अध्ययन सुचार्ड का मिलता है। 1880 ई. में इनका एक प्रपत्र 'KreolischeStudien'नाम से प्रकाशित हुआ। यह इस विषय पर लिखा गया प्रथम प्रपत्र था।इन्होंने पिजिन को लिंग्वाफ्रेंका के रूप में देखा। अपने शोध में पाया कि जब दो या दो से अधिक भिन्न-भिन्न मातृभाषा-भाषी आपस में विचार-विनिमय करते हैं; तो जिस भाषा का प्रयोग होता है, वह उन वक्ताओं में से किसी की मातृभाषा नहीं होती। इन्हीं लक्षणों के आधार पर पिजिन को अनेक विद्वानों ने परिभाषित करने की कोशिश की है।

पीटर मुहलहौसलर ने अपनी पुस्तक 'Pidgin and Creole Linguistic' में ब्लूमफील्ड, हॉल, बासेलर, UNESCO, आदि के पिजिन संबंधी मतों को उद्धृत किया है । इन विद्वानों के मतों के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा है कि 'पिजिन एक द्वितीय भाषा है जो भाषायी संप्रेषण की आवश्यकताओं के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।'[27] सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं कि यह

किसी की मातृभाषा नहीं होती।P. H. Mathews ने Concise Dictionary of linguistics में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है कि 'पिजिन व्यवसाय के लिए विकसित की गयी एक सामान्यीकृत भाषा है। पर यह ऐसे लोगों के बीच संपर्क भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है जिनके बीच कोई दूसरी भाषा माध्यम रूप में नहीं होती।'[28]

इन परिभाषाओं में विद्‌वानों ने भले ही पिजिन का अलग-अलग नाम दिया हो पर एक स्वर में सभी ने इसे अलग-अलग भाषा-भाषियों की आपसी संप्रेषण की विवशता के फलस्वरूप विकसित भाषा के रूप में स्वीकार किया हैं। इन विद्‌वानों के द्‌वारा दिया गया नाम, चाहे संक्षिप्त भाषा हो या मिश्रित भाषा; सभी में जो लक्षण सामान्य है, वह है- लिंग्वाफ्रेंका जैसे समान धर्म-गुण का। धर्मपाल गाँधी ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है कि "पिजिन दो भाषाओं के संपर्क से उद्‌धत वे भाषाएँ हैं जो दो भाषिक समुदायों में परस्पर विनिमय की आवश्यकताओं को लेकर उत्पन्न होती है।"[29]

रोनाल्ड वार्थौ ने पिजिन को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "यह एक ऐसी संक्षिप्त भाषा है जो ऐसे लोगों के संपर्क में आने के परिणामस्वरूप बनती है, जिनके बीच कोई भी सामान्य भाषा नहीं होती। इसका संबंध केवल ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति से है। कोई भी वक्ता इस भाषा को मातृभाषा के रूप में नहीं सीखता।"[30] भारत में पिजिन का अगर किसी भाषा में कोई लक्षण मिलता है तो वह 'नागमिज' है। यह पूरे नागालैंड जहाँ की अनेक जनजातीय भाषाएँ हैं, वहाँ इन भाषाओं एवं असमिया (जो मूलतः व्यवसायियों के संपर्क से आया हैं) का मिला जुला रूप इनके बीच संपर्क भाषा के रूप में व्यवहार किया जाता है। इसका व्याकरण असमिया भाषा का है और शब्द वहाँ के विभिन्न भाषायी समाज से लिया गया है। विश्व में अनेक भाषाओं के पिजिन हैं, जैसे - New Hebrides pidgin, Solomon Island pidgin, New Guinea pidgin, China coast pidgin इत्यादि।

➢ लिंग्वाफ्रेंका और पिजिन में अंतर

लिंग्वाफ्रेंका को विद्‌वानों ने बहुभाषा-भाषी समुदाय के बीच संपर्क भाषा के रूप में देखा है। पिजिन भी इसी तरह की भूमिका निभाता है। पर दोनों की जिम्मेदारी एक होते हुए भी दोनों में बारीक अंतर है। पहला यह कि लिंग्वाफ्रेंका किसी भाषायी समाज की मातृभाषा हो सकती है परन्तु पिजिन किसी की मातृभाषा नहीं होती है। बहुभाषिक और बहुसांस्कृतिक समाज में ऐसा

संभव है कि लिंग्वाफ्रेंका का प्रयोग व्यक्ति अपने कार्यक्षेत्र में और घर में दोनों जगह करते हों, परन्तु पिजिन का प्रयोग दोनों उद्देश्य के लिए नहीं किया जाता। इन सभी अंतरों का मूल कारण है कि लिंग्वाफ्रेंका किसी भाषायी समाज की प्राकृतिक भाषा है; जो उनके द्वारा वाक्-व्यापार में प्रयुक्त होती है, जबकि पिजिन एक मिश्रित उत्पाद है; जो अलग-अलग भाषायी समुदाय के आपसी संपर्क के कारण बनता है।

- **क्रियोल**

पिजिन अपनी प्रारंभिक अवस्था में सिर्फ मौखिक रूप में प्रयुक्त होती है। पर जब ये धीरे-धीरे स्थिर, विकसित और नई पीढ़ी की मातृभाषा बन जाती है तो क्रियोल कहलाने लगती है। क्रियोल शब्द प्रारंभ में उन यूरोपियन के लिए प्रयुक्त किया जाता था जो यूरोपियन और अफ्रीकन के मिश्रण से उत्पन्न होते थे और ऐसे समूहों की भाषा को क्रियोल कहा जाता था।

पीटर मुह्ल्हौसलर ने भी 'जो भाषा जातीय एवं संस्कृति के मिश्रण से बनी है उसे क्रियोल कहा जाता है।'[31] उपनिवेशवाद के दौर में क्रियोल रेड इंडियन एवं श्वेतों के संबंध से उत्पन्न संतान को कहा जाता था। आगे चलकर चूँकि पिजिन भाषा इसी तरह के मिश्रण से बनी थी, अत: जब यह किसी पीढ़ी की मातृभाषा बनी तो इस भाषा को भी क्रियोल नाम से जाना जाने लगा।'इस भाषा की तीन प्रमुख विशेषताएँ मिश्रित जाति और संस्कृति की भाषा, पिजिन भाषा की दूसरी अवस्था और प्राकृतिक भाषा जिनमें मनुष्यसोचता है, बतलाई गयी हैं।'[32] संसार में बहुत ही पिजिन और क्रियोल भाषाएँ हैं। भारत के परिप्रेक्ष्य में दक्खिनी हिंदी को लिया जा सकता है पर उपर्युक्त सारी शर्तें इस पर लागू नहीं होती। वैश्विक परिदृश्य में उदाहरण के रूप में ' Hawaii Creole English', 'to restraints Creole English' , 'New Guinea TokPisin' को देख सकते हैं।

- **पिजिन और क्रियोल में अंतर**

पिजिन और क्रियोल दोनों एक ही भाषा की अलग अलग अवस्थाएँ हैं। जातीय एवं सांस्कृतिक मिश्रण के फलस्वरूप पहले पिजिन बनती है, फिर यही विकसित होकर क्रियोल बन जाती है। पिजिन का संबंध सिर्फ मौखिक भाषा से है, पर जब ये क्रियोल बन जाती है तो यह एक जाति, समाज या क्षेत्र विशेष की अस्मिता से जुड़ जाती है। इनकी अपनी एक लिपि होती है, अपना

व्याकरण विकसित हो जाता है। इन्हीं बिन्दुओं के आधार पर 'दिलीप सिंह'[33] ने इनमें कुछ अंतर निर्धारित किया है।

1.पिजिन के प्रयोक्ताओं की मूल भाषा (मातृभाषा) कुछ और होती है। क्रियोल बोलने वाले की मूल भाषा और मातृभाषा एक ही होती है।

2. क्रियोल का एक निश्चित भाषायी समुदाय होता है, पिजिन का नहीं।

3. पिजिन रूप को सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिल पाती है, क्रियोल को मिल जाती है।

4. पिजिन के मानकीकरण के प्रयत्न नहीं किए जाते, क्रियोल का मानकीकरण किया जाता है।

5. पिजिन कोई सुनिश्चित भाषा नहीं होती है, क्रियोल होता है।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात हो रहा है कि लिंग्वाफ्रेंका, पिजिन और क्रियोल समाजभाषाविज्ञान के अलग-अलग मानक होने के बावजूद भी आपस में बहुत समानता लिए हुए है। भाषा और बोली की विस्तृत जानकारी इन तीनों के ज्ञान के बिना अधूरी है क्योंकि ये तीनों घटक भाषा और बोली के विस्तृत परिप्रेक्ष्य को जानने में हमारी सहायता करते हैं। लिंग्वाफ्रेंका,पिजिन और क्रियोल के जानकारी के बिना बहुभाषिकता और भाषा-विकल्पन को भी समझना मुश्किल है, इस बिंदु से भी ये तीनों बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

(2.2.7) बहुभाषिकता

दो या दो से अधिक भाषाओं को जानना द्विभाषिकता या बहुभाषिकता है। हिंदी में द्विभाषिकता का अभिप्राय कुछ लोग दो भाषाओं को जानने से लेते हैं परन्तु "अंग्रेजी में bilingualism में multilingualism को समाहित मानते हैं। अर्थात जहाँ- जहाँ द्विभाषिक या द्विभाषिकता आदि शब्दों का प्रयोग हो वहाँ-वहाँ इसके अर्थ क्रमश: द्विभाषिकता या बहुभाषिकता लिया जाना चाहिए।"[34]

आज मानव विकास की चरम अवस्था में पहुँच चुका है। जनसंपर्क के साधनों के विकास से विविध भाषा-भाषी समुदाय का मेल-जोल बढ़ा है, जिस कारण एक-दूसरे की भाषा सीखने की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। ज्ञान अर्जन की जिज्ञासा और होड़ ने इसे और भी प्रोत्साहित किया है। ऐसे में आज कोई भी एकभाषी नहीं है। प्राय: व्यक्ति एक से अधिक भाषा समझता है और बोलता है, अत: कहा जा सकता है कि आज के सभी मनुष्य बहुभाषिक हैं। बहुभाषिकता के कई कारण हैं। इनमें बहुसंस्कृतिकता और शिक्षा प्रमुख हैं। राष्ट्र की राजनीतिक नीतियाँ भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। भारतीय संस्कृति विविध संस्कृतियों का सम्मिलित रूप है। चूँकि संस्कृति किसी सीमा में नहीं बँधती, इसलिए इसका प्रवाह एक समाज से दूसरे समाज में और एक राज्य से दूसरे राज्य में निर्बाध होता रहता है। यही कारण है कि किसी खास संस्कृति से संबंधित भाषा भी आसानी से एक भाषायी समुदाय से दूसरी भाषायी समुदाय तक पहुँचती है। इस प्रकार कह सकते है कि बहुसांस्कृतिकता बहुभाषिकता का महत्त्वपूर्ण कारण है।

शिक्षा भी व्यक्ति और समाज को बहुभाषिक बनाने में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। उदाहरण के रूप में भारतीय शिक्षा प्रणाली को देख सकते हैं। यहाँ घर में हम अपनी मातृभाषा में बात करते हैं, सामाजिक व्यवहार की भाषा दूसरी है और शिक्षा ग्रहण किसी अन्य भाषा में करते हैं। इन परिस्थितियों के कारण व्यक्ति बहुभाषिक बन सकता है। उदाहरण स्वरूप बिहार की शिक्षा प्रणाली और सामाजिक भाषा को देख सकते हैं। वहाँ के लोगों की मातृभाषा मगही, मैथिली, भोजपुरी, अंगिका, या बज्जिका है। वहाँ की प्रारंभिक शिक्षा या माध्यमिक शिक्षा हिंदी में ही दी जाती है और उच्च शिक्षा अंग्रेजी में दी जाती है। यही स्थिति लगभग पूरे भारत की है। तीसरा महत्त्वपूर्ण कारण राजनीतिक नीतियाँ भी हैं। भारत में तीन भाषा सूत्री शिक्षा नीति का प्रावधान है। अर्थात् प्रत्येक राज्य में तीन भाषाओं की पढ़ाई अनिवार्य माना गया है। इन सभी कारणों से यहाँ का समाज स्वाभाविक रूप से और बलपूर्वक बहुभाषिक बन जाता है।

कुल मिलाकर कह सकते है कि बहुभाषिकता भाषा संप्रेषण में एक अहम भूमिका में रहती है। बहुभाषिकता के कारण संप्रेषण आसान हो जाता है और साथ ही साथ मनुष्य को एक से अधिक भाषाओं का ज्ञान भी हो जाता है जो शिक्षा में लाभकारी होता है। इसके अलावा बहुभाषिकता से किसी भी मनुष्य को अपने समाज से इतर दूसरे समाज की भाषा और संस्कृति का ज्ञान भी होता है। बहुभाषिकता का ज्ञान कूट-मिश्रण और कूट-अंतरण के ज्ञान के बिना असंभव है।

(2.2.8) कूट-मिश्रण और कूट-अंतरण

Barnstin ने “भाषा और भाषा रूपों को कोड (code) की संज्ञा से अभिहित किया है।” आधुनिक भाषा-विज्ञान की यह एक महत्त्वपूर्ण संकल्पना है। इस स्थापना ने भाषा, बोली, शैली आदि अभिव्यक्ति के विविध रूपों से उत्पन्न भ्रमों की संभावनाओं को कम कर दिया है। अब भाषा-विज्ञान में कोड कहने से विभिन्न भाषाओं और बोलियों का बोध होता है। भाषा विज्ञान कोश में लिखा है ‘कोड शब्द का प्रयोग किसी भाषा या भाषा प्रकार के लिए किया जाता है।’[35] भाषा व्यवहार में कोड प्रयोग के विविध रूप होते हैं, इसी के आधार पर कूट-मिश्रण(code mixing) और कूट-अंतरण(code switching) की संकल्पना भी विकसित हुई है।

- **कूट-मिश्रण (code mixing)**

बहुभाषिकता आज के समाज के सबसे बड़ी विशेषता है। आज कोई भी व्यक्ति एक भाषा-भाषी नहीं है। ऐसे में भाषा प्रयोग के बहुत से रूप उभर कर सामने आए हैं। कूट मिश्रण इन्हीं में से एक है। कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई वक्ता एक साथ एक ही वाक्य में दो या दो से अधिक भाषाओं के शब्दों और उपवाक्यों का प्रयोग करता है। इस प्रक्रिया में व्याकरणिक सरंचना किसी एक भाषा की होती है तथा शब्द, पदबंध, पद, उपवाक्य दूसरी भाषा के। इस प्रकार के प्रयोग स्वाभाविकता और सम्प्रेषणीयता को प्रभावशाली बनाने के लिए कियेजाते हैं। भारत में शिक्षित वर्ग और अशिक्षित वर्ग दोनों भाषा व्यवहार में हिंदी या बोलचाल की भाषा के साथ अंग्रेजी एवं अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से करते है।

जैसे - मैं शॉपिंग करने मार्केट जा रही हूँ।

मास्टर साहब का तबादला हो गया।

इन वाक्यों में शॉपिंग, मास्टर और मार्केट अंग्रेजी भाषा के शब्द हैं। तबादला अरबी-फारसी भाषा के शब्द हैं, जिनका प्रयोग अत्यंत प्रभावी और स्वाभाविक तरीके से इन वाक्यों में किया गया है। भाषा प्रयोग के इसी रूप को कूट-मिश्रण कहा जाता है। इनमें किसी एक भाषा के वाक्य में दूसरी भाषा के शब्दों और पदों का मिश्रण किया जा रहा है।

➢ कूट-अंतरण (code switching)

भाषा व्यवहार में कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई वक्ता किसी एक भाषा में बातचीत के क्रम में बीच-बीच में किसी दूसरी भाषा के वाक्यों का प्रयोग करने लगता है। भाषा व्यवहार की इस प्रक्रिया को कूट-अंतरण कहा जाता है। इसकी एक शर्त यह है कि वक्ता और श्रोता दोनों कोडों को जानते और समझतेहों और दोनों पर समान अधिकार रखतेहों।

जैसे - तूने आज का नाटक देखा। इट वाज वेरी नाईस।

इस वाक्य को देखने से पता चलता है कि इनका प्रथम वाक्य हिंदी भाषा में है परंतु दूसरा वाक्य अंग्रेजी में और दोनों वाक्यों में जो कोड-अंतरण की प्रक्रिया है वह अत्यंत ही सरल और स्वाभाविक है। भारतीय जनमानस पर अंग्रेजी का गहरा प्रभाव है। लोग अंग्रेजी को प्रतिष्ठा की भाषा समझते हैं अत: यहाँ की भाषा में प्राय: कूट-मिश्रण और कूट-अंतरण की प्रक्रिया में अंग्रेजी शब्दों एवं वाक्यों का प्रयोग ज्यादा होता है। ऐसा नहीं है कि सिर्फ अंग्रेजी के शब्दों का ही प्रयोग होता है, यहाँ की क्षेत्रीय बोली के साथ भी ऐसा होता है। हर क्षेत्र की बोली में उसके निकटवर्ती क्षेत्र की बोली का मिश्रण और अंतरण दिखाई देता है।

निष्कर्षत: कूट-मिश्रण और कूट-अंतरण भाषा को सहज और स्वाभाविक बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते है। इनके प्रयोग से भाषा क्लिष्ट की जगह सरल बन जाती है, जिसे साधारण मनुष्य आसानी से समझ सकता है। ये दोनों भाषा संप्रेषण के लिए बहुत ही उपयोगी है।

(2.2.9) भाषा विकल्पन

हिंदी के किसी कवि ने लिखा है कि 'कोस-कोस पर पानी बदले, बीस कोस पर बानी।' अर्थात् हर एक कोस पर पानी का स्वाद बदल जाता है और बीस कोस पर भाषा बदल जाती है। इस पंक्ति पर भाषा की समानता पानी से करके बहस सम्बन्धी एक सबसे बड़ी विशेषता को प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है। यह विशेषता है भाषा की जीवंतता। जिस तरह पानी में एक प्रवाह है, धार है, उसी प्रकार भाषा में भी एक सतत् प्रवाह है, जिसे विकल्पन कहते हैं। "जिस भाषा में विकल्पन नहीं होता है, उसे मृत भाषा या अप्राकृतिक भाषा माना जाता है।"[36] भाषा के बदलने

का अभिप्राय भाषायी सरंचना के आंतरिक और बाह्य परिवर्तन से है। यह परिवर्तन शब्द के उच्चारण से लेकर अर्थ-बोधन की प्रक्रिया में देख सकते हैं। भाषा परिवर्तन की इस घटना को भाषा-विज्ञान में भाषा विकल्पन कहते हैं।

भाषा एक समाज सापेक्षिक संकल्पना है इसलिए विकल्पन की सारी संभावनाएं समाज एवं सामाजिक वर्गीकरण से जुड़ी हुई है। भाषा विकल्पन के अनेक आधार हैं। ये आधार भौगोलिक, सामाजिक और आर्थिक कारण से सीधे-सीधे जुड़ते हैं। प्रो.पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु लिखते हैं कि "बच्चे का भाषा व्यवहार अधेड़ उम्र के व्यक्ति के भाषा व्यवहार से अलग होता है और वृद्ध का भाषा व्यवहार इन सबसे अलग होता है। यही नहीं, यौन के आधार पर भी पुरुष और नारी के भाषा व्यवहार में भी अंतर होता है। जिस प्रकार का आक्रामक भाषा-व्यवहार का प्रयोग पुरुष कर पाता है उस प्रकार का आक्रामक भाषा-व्यवहार का प्रयोग नारी नहीं करती है। इसी प्रकार समाज के निम्नवर्ग, मध्य वर्ग, उच्च वर्ग के भाषा व्यवहार में भी उनके शब्द चयन और उनकी वाक्य रचना दोनों में अंतर देखा जा सकता है। यहाँ तक कि भौगोलिक दृष्टि से एक ही भाषा-भाषी क्षेत्र में, गाँव और शहर में अलग-अलग रहने वाले लोगों की भाषा में, उनके शब्द चयन और उनकी वाक्य रचना में इस तरह का अंतर देखा जा सकता है।"[37] भाषा-विकल्पन समाजभाषाविज्ञान की महत्त्वपूर्ण संकल्पना है।

भाषा-विकल्पन सम्बन्धी इन मान्यताओं के आधार पर भाषा-विकल्पन को कई श्रेणियों में विभाजित किया गया है। उम्र आधारित भाषा-विकल्पन, लिंग आधारित भाषा-विकल्पन, क्षेत्र आधारित भाषा-विकल्पन, वर्ग आधारित भाषा-विकल्पन, जाति आधारित भाषा-विकल्पन, शिक्षा आधारित भाषा-विकल्पन इत्यादि। इन्हीं विकल्पनों के आधार पर किसी भी क्षेत्र की भाषाओं में पाए जाने वाली विकल्पनों का अध्ययन किया जाता है।

कुल मिलाकर कह सकते है कि भाषा-विकल्पन संप्रेषणीयता में महत्त्वपूर्ण है। भाषा समाज से जुड़ी होती है। प्रत्येक समाज की अपनी-अपनी बोली होती है। भाषा-विकल्पन भाषा में हुए परिवर्तन को दर्शाता है। इस से भाषा में जीवंतता आती है। जिस भाषा में भाषा-विकल्पन नहीं होता है, वह भाषा अमूर्त हो जाती है।इन अर्थों में भाषा में भाषा-विकल्पन एक अहम भूमिका निभाता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि समाजभाषाविज्ञान भाषा के सामाजिक सन्दर्भों की पड़ताल करता है। इस प्रक्रिया में समाज और भाषा के घात-प्रतिघात को समझने के लिए भाषायी समाज, व्यक्ति बोली, समाज बोली, प्रयुक्ति, लिंग्वाफ्रेंका, पिजिन, क्रियोल, बहुभाषिकता, भाषा-विकल्पन, कूट-मिश्रण एवं कूट-अंतरण को समझने का प्रयास किया गया है।

समाजभाषाविज्ञान की अवधारणा भाषा को समझने की नवीन दृष्टि प्रदान करता है। इसकी शुरुआत बोलीविज्ञान से होती है, परंतु वहीं आगे परिवर्तित-परिवर्धित होकर समाजभाषाविज्ञान के नाम से भाषाविज्ञान की एक शाखा के रूप में स्थापित होता है। कई विद्वानों ने प्रारंभ में समाजभाषाविज्ञान और भाषा के समाजशास्त्र को एक ही माना है। अध्याय के प्रारंभ में की गयी चर्चा यह स्पष्ट करती है कि भाषा का समाजशास्त्र भाषा के संस्थागत अस्मिता को रेखांकित करता है, मसलन कौन-सी भाषा राजकाज की भाषा हो, किसे शिक्षा का माध्यम बनाया जाए आदि। पर समाजभाषाविज्ञान भाषा और समाज के अंत:संबंधों को वृहत्तर स्तर पर प्रकाशित करने का प्रयास करता है। इसी प्रयास के परिणामस्वरूप अनेक मानक निर्मित किए गये, यथा- भाषायी समाज, प्रयुक्ति, लिंग्वाफ्रेंका, क्रियोल, पिजिन, कूट-मिश्रण, कूट-अंतरण, बहुभाषिकता, भाषा-विकल्पन। इन्हीं मानकों के आधार पर समाजभाषाविज्ञान किसी भी भाषा का विवेचन करता है।

भाषायी समाज समाजभाषाविज्ञान के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। किसी भी भाषा का अपना समाज उस भाषा के बारे में, उसकी संस्कृति के बारे में बताता है। प्रत्येक मनुष्य की अपनी सामाजिक पहचान के साथ-साथ भाषायी पहचान भी होती है। भाषायी पहचान भाषायी समाज से ही जुड़ी होती है।इस अध्याय में भाषायी समाज का विस्तृत विश्लेषण कर के समाजभाषाविज्ञान में उसके महत्त्व को रेखांकित किया गया है।

चूँकि कोई भी भाषायी बहस भाषा और बोली के बिना पूरा नहीं हो सकती इसलिए इन दोनों पर भी विस्तार से चर्चा की गई। इस प्रसंग से यह स्पष्ट किया गया है कि भाषा और बोली के बीच जो भी अंतर है वह राजनीतिक है, क्योंकि प्रकार्य के स्तर पर दोनों विचार विनिमय की भूमिका निभाते है। प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव द्वारा भाषा और बोली के बीच रेखांकित किए हुए अंतरों को उद्धृत किया गया है।

इसी तरह भाषा और बोली का विश्लेषण प्रयुक्ति के बिना संभव नहीं है। प्रयुक्ति भाषा के प्रयोग में बहुत अहम भूमिका निभाती है। भाषा का प्रयोग कहाँ किस तरह से होना चाहिए उसकी जानकारी बिना प्रयुक्ति के ज्ञान के हो ही नहीं सकती। प्रयुक्ति भाषायी ज्ञान में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

उसी प्रकार लिंग्वाफ्रेंका, पिजिन और क्रियोल मानक भाषा और बोली को समझने के लिए अहम हैं। लिंग्वाफ्रेंका, पिजिन और क्रियोल समाजभाषाविज्ञान के अलग-अलग मानक होने के बावजूद भी आपस में बहुत समानता लिए हुए है। भाषा और बोली की विस्तृत जानकारी इन तीनों के ज्ञान के बिना अधूरी है क्योंकि ये तीनों घटक भाषा और बोली के विस्तृत परिप्रेक्ष्य को जानने में हमारी सहायता करते है।

इस अध्याय में हुए विश्लेषण के आधार पर कह सकते है कि बहुभाषिकता भाषा संप्रेषण में एक अहम भूमिका निभाती है। बहुभाषिकता के कारण संप्रेषण आसान हो जाता है और साथ ही साथ मनुष्य को एक से अधिक भाषाओं का ज्ञान भी हो जाता है जो शिक्षा में लाभकारी होता है। इसके अलावा बहुभाषिकता से किसी भी मनुष्य को अपने समाज से इतर दूसरे समाज की भाषा और संस्कृति का ज्ञान भी होता है। उसी तरह कूट-मिश्रण और कूट-अंतरण भाषा को सहज और स्वाभाविक बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते है। इनके प्रयोग से भाषा क्लिष्ट की जगह सरल बन जाती है जिसे साधारण मनुष्य आसानी से समझ सकता है। ये दोनों भाषा संप्रेषण के लिए बहुत ही उपयोगी है।

जहाँ तक भाषा-विकल्पन की बात करें तो भाषा-विकल्पन भाषिक संप्रेषणीयता में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। भाषा समाज से जुड़ा होती है। प्रत्येक समाज की अपनी-अपनी बोली होती है। भाषा-विकल्पन अलग-अलग समाज में हुए भाषायी परिवर्तन को दर्शाता है। इस से भाषा में जीवंतता आती है। जिस भाषा में भाषा-विकल्पन नहीं होता है वह भाषा अमूर्त हो जाती है। इस मायने से भाषा में भाषा-विकल्पन एक अहम भूमिका निभाती है।

इस अध्याय में इन सभी मानकों का विवेचन किया गया है। प्रस्तुत सैद्धांतिकी समाजभाषाविज्ञान के मूलभूत आधार हैं। इन्हीं मानकों के आधार पर किसी भाषा की समाजभाषावैज्ञानिक व्याख्या की जाती है। इसके आधार पर ही आगे की खोज संभव है। इन मानकों को स्पष्ट रूप से विश्लेषित करने के लिए विभिन्न विद्वानों के मतों का सहारा लिया

गया है। निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि उपर्युक्त विश्लेषित मानक साहित्य के समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन की पृष्ठभूमि तैयार करता है।

तृतीय अध्याय

साहित्य और समाजभाषाविज्ञान का अंत:संबंध

❖ साहित्य और समाजभाषाविज्ञान का अंत:संबंध

3.1 समाज, भाषा और साहित्य

3.2 रचनाकार

3.3 सामाजिक संजाल

3.4 वाक्-व्यापार

3.5 **संवादात्मक सहयोग का सिद्धांत**

साहित्य और समाजभाषाविज्ञान का अंत:संबंध

दूसरे अध्याय में समाजभाषाविज्ञान की संकल्पनाओं पर विस्तार से विचार किया गया है। इस अध्याय में उन बिन्दुओं और सन्दर्भों पर प्रकाश डालने की कोशिश की जाएगी जो समाजभाषाविज्ञान और साहित्य के अंत:संबंधों को स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यहाँ यह दोहराना समीचीन होगा कि समाजभाषाविज्ञान भाषा की व्याख्या सामाजिक सन्दर्भों के आधार पर करता है और साहित्य में समाज की समस्त मनोदशाएँ, संवेदनाएं एवं संबंध भाषा के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती हैं। इस प्रकार भाषा और समाज, साहित्य और समाजभाषाविज्ञान दोनों के केंद्र में है। भाषा और समाज दोनों का साधन भी है और साध्य भी।

3.1समाज, भाषा और साहित्य

समाज, भाषा और साहित्य मानवीय सत्ता, जीवन और जगत को संचालित करने तथा बचाए रखने वाले महत्त्वपूर्ण अवयव हैं। ये तीनों सहजीवी और सहपोषी भी हैं। तीनों एक दूसरे से निरंतर प्रभावित होते हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इसे परिभाषित किया है। भाषा को विद्वानों ने संप्रेषण के माध्यम के रूप में स्वीकार किया है; परंतु भाषा महज संप्रेषण का साधन मात्र नहीं, अपितु मानवीय अस्मिता से जुड़ी हुई एक सामाजिक संकल्पना है। विलियम डाउंज (william downes) ने भाषा को 'दैनिक जीवन का जटिल व्यापार माना है।'[38]

हम प्राय: देखते है कि दैनिक व्यवहार में लोग भाषा शब्द का प्रयोग अनेकानेक प्रकार से करतेहैं। उदहारण स्वरूप आपसी बातचीत में अगर किसी ने अपमानजनक शब्दों का प्रयोग किया तो श्रोता तत्काल उसे आगाह करते हुए कहता है - 'इस तरह का भाषा का प्रयोग न करें', वहीं अगर किसी ने आदरपूर्वक बात की तो लोग कहते हैं - 'वाह! कैसी भाषा है। अद्‌भुत भाषा है।' अगर बुजुर्गों से शिष्ट भाषा में बात करते हैं तो कहते हैं - 'माँ-बाप ने क्या संस्कार दिए हैं'।वहीं अगर ऊटपटांग बातें करें तो कहते हैं - 'बड़ा ही कुसंस्कारी बच्चा है'। यदि हम उम्र के साथ भी अशिष्ट भाषा का प्रयोग करें तो समाज संदर्भित परिप्रेक्ष्य में वे भी हमें आपत्तिजनक दृष्टि से देखते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि हम जो भी भावना, व्यापार, व्यवहार भाषा के माध्यम

से अभिव्यक्त करते हैं, वे सभी महज भाषा के माध्यम से संप्रेषित ही नहीं होते वरन् वक्ता के व्यक्तिगत स्वभाव, ज्ञान, परिवेश, प्रतिष्ठा, रहन-सहन, सामाजिक स्थिति आदि को भी दर्शाते हैं। भाषा के माध्यम से ही मनुष्य मूर्त-अमूर्त, वस्तु, भावना, विचार आदि को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भाषा एक ऐसी बहुआयामी संकल्पना है जो वक्ता की जातीय अस्मिता, ज्ञान, सम्मान से जुड़ी होती है। भाषा सम्बन्धी इस प्रकार की संकल्पना को अज्ञेय ने अपने निबंध 'भाषा और अस्मिता' में स्पष्ट किया है कि "किसी भी गंभीर और संवेदनशील वक्ता के लिए भाषा उसकी अस्मिता की अभिव्यक्ति हो जाती है।"[39] भाषा की आवश्यकता सामाजिकता से जुड़ी हुई है इसलिए समाज ही इसका प्रयोगशाला है। यहीं यह परिवर्तित, परिवर्धित होती है। विद्यानिवास मिश्र के शब्दों में कहें तो "आदमी भाषा केवल दुहराता ही नहीं, भाषा का अनेक प्रयोग से विनियोग करके, भाषा को अनुवर्तित करके नया आकार भी देता है।"[40]

व्यक्ति का सुसंगठित समूह समाज कहलाता है।सुगठित समूह से तात्पर्य है नियमों की एकसूत्रता में बंधा मानव समुदाय। समाज का प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से किसी न किसी रूप में जुड़े रहते हैं। यह जुड़ाव और निर्भरता ने ही मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाया है। आज समाज और सामाजिकता ने मानव विकास की लम्बी यात्रा कबीलाई-संस्कृति से साइबर-संस्कृति तक तय कर ली है। विकास के इस चरण से जीवन और जगत को कई रूपों में प्रभावित किया है। आज के जीवन मूल्य वहीं नहीं हैं जो आदिकाल या मध्यकाल में थे। आज के जीवन मूल्य अपनी ऐतिहासिकता में आधुनिक और उत्तर-आधुनिक हो गये हैं। इसी के अनुरूप सामाजिक मूल्य भी बदले हैं।

भाषा और समाज का उपर्युक्त विवरण किया जाए तो पाते हैं कि मनुष्य इन दोनों के केंद्र में हैं। भाषा मनुष्य के दैनिक व्यवहार को प्रकाशित करने का माध्यम है और समाज इस माध्यम के द्वारा जुड़ा मानव समूह है। एक और अवधारणा जो भाषा और समाज के अंत:संबंधों को व्याख्यायित करने के लिए अत्यंत जरूरी है वह है 'संस्कृति'। ऐसा माना या कहा जा सकता है कि मानव जीवन का समस्त कार्य-व्यापार संस्कृति ही है। हर समाज की अपनी रूढ़ियाँ और परम्पराएँ होती है। इन्हीं के मिलने से कोई संस्कृति बनती है। यहाँ यह कहना कोई आतिशियोक्ति नहीं होगी कि संस्कृति की अभिव्यक्ति भी भाषा के माध्यम से ही होती है। भाषा और संस्कृति को अभिन्न मानते हुए Dell Hymes ने लिखा है कि 'भाषा और संस्कृति में संबंध ही नहीं है, बल्कि ये दोनों एक-दूसरे के परस्पर सहसम्बन्धी हैं।'[41]

समाज और भाषा के अंत:संबंधो को विश्लेषित करते हुए रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने 'भाषा का समाजशास्त्र और समाजभाषाविज्ञान की चर्चा की है।'[42]'भाषा और समाज की पूर्व मान्यताओं और परंपराओं को ध्यान में रखकर इनके बीच के अंत:संबंधों को व्याख्यायित करने की बात राजेंद्र मेस्त्री ने कही है।'[43] राजाराम मेहरोत्रा ने भाषा और समाज के अंत:संबंधों की बात करते हुए लिखा है कि 'भाषा और समाज का स्वतंत्र अस्तित्व होते हुए भी यह एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। भाषा के बिना किसी समाज की कल्पना नहीं की जा सकती और न ही समाज के बिना भाषा की।'[44] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि भाषा और समाज दोनों ही जीवन और जगत के लिए अनिवार्य संकल्पनाएँ हैं। चूँकि दोनों का संबंध अन्योन्याश्रित है। अत: एक ही व्याख्या के लिए दूसरा साधन का कार्य करता है। 'सस्यूर ने भाषा को भाषायी समुदाय से जोड़ते हुए इसे सामाजिक सच्चाई के रूप में स्वीकार किया है।'[45]

इन विद्वानों के मतों से स्पष्ट हो जाता है कि भाषा और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। समाज के बिना भाषा की संकल्पना असंभव है क्योंकि भाषा सामाजिक जीवन के ही विभिन्न पहलुओं को उजागर करती है। इसी प्रकार भाषा के बिना भी समाज अपूर्ण है। समाज अपनी सारी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से करता है। अत: भाषा और समाज दोनों ही एक दूसरे के परिवर्तन और परिवर्धन में साधन और माध्यम का काम करते हैं। अगर Witney के शब्दों में कहे तो 'भाषा कोई व्यक्तिगत स्वामित्व वाली नहीं बल्कि सामाजिक संकल्पना है। ये दोनों दो अलग-अलग वस्तु नहीं बल्कि एक हैं। भाषा किसी एक लिए नहीं बल्कि पूरे समाज के लिए होती है और इसके विकास में भी किसी एक व्यक्ति का नहीं बल्कि पूरे समूह की भूमिका होती है।'[46]

इस प्रकार भाषा की समाजधर्मिता और समाज की भाषानुमुखता एक नैसर्गिक और अनिवार्य प्रक्रिया है। व्यक्ति से समाज बनता है और समाज से सामाजिकता विकसित होती है। समाज में सामाजिक अभिव्यक्ति उस समाज विशेष की भाषा से होती है। कहा जा चुका है कि सामाजिकता का अभिप्राय भाषा की एकसूत्रता से है। यह एकसूत्रता उस भाषायी समुदाय के आपसी समझदारी, साझेदारी और तालमेल पर निर्भर करती है। हम जानते हैं कि दुनिया का प्रत्येक समाज अनेक स्तरों पर वर्गीकृत होता है। पश्चिम का सामाजिक वर्गीकरण वर्ग, वर्ण, धर्म, क्षेत्र, नस्ल, लिंग आदि में वर्गीकृत है। भारत में ये वर्गीकरण और भी सूक्ष्म है मसलन वर्ण, धर्म, क्षेत्र, संप्रदाय, लिंग, जाति, उपजाति, इत्यादि। इन सब में जातिगत वर्गीकरण भारत

में सबसे ज्यादा प्रभावशाली है। वर्तमान लोकतंत्र परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से इसी पर निर्भर है। प्राचीन समय में यह कर्म पर आधारित था लेकिन आज जन्म आधारित हो गया है। आधुनिकता के कारण इस वर्गीकरण में थोड़ा बदलाव भी आया है, बावजूद इसके इसकी सत्ता आज भी कायम है। इस वर्गीकरण का भाषा से गहरा संबंध है। वर्गीकृत समाज में भी प्रत्येक जाति और वर्ग अपनी आवश्यकताओं के कारण एक दूसरे से जुड़े होते हैं। इस जुड़ाव को भाषा के माध्यम से ही व्यक्त किया जाता है। यहाँ भाषा एक माध्यम के रूप में अवश्य होती है लेकिन भाषा के अनेक स्तर और रूप होते हैं। इसके स्तर और रूप को भाषा-विकल्पन कहते हैं जिसकी चर्चा दूसरे अध्याय में की गई है।

'साहित्य' इस अध्ययन का महत्वपूर्ण घटक है। इसे मानवीय संवेदनाओं एवं संबंधों का जीवंत एवं सर्जनात्मक दस्तावेज कहा जाता है। इसमें मानवीय भावविकार और व्यापार मसलन प्रेम, घृणा, करुणा, वात्सल्य, क्रोध, अहंकार आदि को चित्रित किया जाता है। यहाँ भी मानवीय संवेदनाओं और संबंधों की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से की जाती है।

साहित्य में मूलतः किसी समाज को मूर्तमान किया जाता है। इसके माध्यम से हम प्राचीन या वर्तमान संस्कृति, सामाजिक परंपरा एवं भाषायी अस्मिता से परिचित होते हैं। अभिप्राय यह है कि साहित्य संस्कृति, समाज और भाषा को सुरक्षित रखने का एक माध्यम भी है। इस प्रकार कह सकते हैं कि किसी भी समाज के निर्माण में साहित्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि -"अगर समाज में साहित्य की कोई भूमिका नहीं होती तो इसकी जरुरत भी नहीं होती।"[47] अर्थात् साहित्य समाज और सामाजिक सरंचना को बनाए और बचाने रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि साहित्य में समाज की अभिव्यक्ति एवं पुनर्रचना भाषा के माध्यम से होती है। भाषा की इस प्रयोजनशीलता को विश्लेषित करते हुए अज्ञेय ने लिखा है -"निःसंदेह भाषा मूल्यों के सर्जनात्मक शोध का और गंभीरतम अनुभूतियों और संवेदनाओं के प्रेषण का माध्यम भी है; लेकिन साथ ही असंख्य साधारण, रोजमर्रा, नगण्य प्रयोजनों और कार्य-व्यापारों का माध्यम भी है। इतना ही नहीं लेखक इन कार्य-व्यापारों और प्रयोजनों की उपेक्षा भी नहीं कर सकता। क्योंकि ये ही उनके रचना संसार का कच्चा माल है।"[48] यहाँ अज्ञेय ने भाषा की सामाजिकता तथा उसके साथ साहित्य और साहित्यकार की इस पर निर्भरता उद्घाटित करने का प्रयास किया हैं। इन विवरणों और प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि भाषा, समाज और साहित्य एक दूसरे में अन्तर्युक्त और

सहसंयोजित हैं। क्रिस्टोफ़र कॉडवेल ने भाषा, समाज और साहित्य के अंत:संबंधों पर बात करते हुए लिखा है कि “भाषा एक सामाजिक उत्पाद है। यह एक ऐसा उपकरण है जिसके माध्यम से मनुष्य एक दूसरे से संवाद स्थापित करता है। अत: साहित्य का अध्ययन समाज के अध्ययन से भिन्न नहीं हैं।”[49]अर्थात भाषा एक सामाजिक उत्पाद है जिसके माध्यम से मनुष्य आपस में संपर्क साधता है, सामाजिकता का निर्माण करता है। इसी सामाजिकता की अभिव्यक्ति साहित्य में होती है, अत: साहित्य का अध्ययन समाज के अध्ययन से इतर नहीं है और यह अध्ययन भाषा के माध्यम से ही संभव है।

भाषा, समाज और साहित्य से संबंधित उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा के बिना न ही साहित्य संभव है और न ही समाज। भाषा में ही साहित्य संभव है। साहित्य, समाज और सामाजिकता संभव हो इसके लिए भाषा का होना अनिवार्य है। यही वह स्रोत है जिसके द्वारा लगातार साहित्य से समाज में और समाज से साहित्य में आवाजाही का मार्ग बनता है। इस मार्ग को बनाने वाले अभियंता या शिल्पी को रचनाकार कहते हैं।

3.2 रचनाकार

भारतीय वाड्मय परंपरा में साहित्यकार को मानवों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। वेदों में रचनाकार को परिभू: एवं स्वयंभूः कहा गया है। वर्तमान समय में भी इसे सम्मानीय स्थान प्राप्त है। रचनाकार साहित्य में जीवन को रचता है, पुनसृजित करता है। यह पुनर्सृजन उसके जीवन अनुभव और कल्पना का सम्मिलित रूप होता है। मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में - “लेखक सामाजिक यथार्थ को रचना में प्रतिबिंबित ही नहीं करता; वह उसकी पुनर्रचना भी करता है। रचना में उसकी कल्पनाएँ और आकांक्षाएँ भी व्यक्त होती है।”[50] एक बात और जो समाजभाषाविज्ञान के लिए जरूरी है वह यह कि रचनाकार उन्हीं सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति सहज और प्रमाणिक ढंग से कर पाता है; जिसकी उसे अनुभूति हो। यह अनुभूति भोगी हुई या देखी हुई हो सकती है। साथ ही घटना विशेष या समाज विशेष की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त भाषा पर रचनाकार का अधिकार हो। अगर लेखक में इस प्रकार के गुणों का अभाव हो तो संप्रेषण तो बाधित होगा ही, रसाभास की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है। इस संबंध में अज्ञेय कहते हैं कि “विशेष बात यही है कि साहित्यकार जो कह रहा है उसके प्रति उसका स्वयं

का समर्पण, उसके स्वयं की निष्ठा किस स्तर की है, वह जिस समाज से बातचीत करना चाहता है उसकी भाषा प्रकृति और उसके मनोविज्ञान से उसकी कितनी गहन पहचान है।”[51]

मैनेजर पाण्डेय और अज्ञेय के कथनों का अभिप्राय यह है कि रचनाकार भाषा के माध्यम से समाज रचता है, पर इसकी प्रामाणिकता लेखक के जीवन अनुभव से गहरे स्तर से जुड़ी रहती है। साहित्यकार अपनी संपूर्ण संभावनाओं की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से करता है अत: रचना में व्यक्त संपूर्ण समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, यथार्थ, कल्पना, जीवन दर्शन इत्यादि का इसमें प्रयुक्त भाषा का गहन तादात्म्य होता है।

साहित्य के समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन में साहित्यकार की भाषिक क्षमता और भाषिक विशेषता का अध्ययन अत्यंत जरूरी होता है। कोई रचनाकार किसी पात्र या प्रसंग के लिए किस प्रकार की भाषा का प्रयोग कर रहा है इसका मूल्यांकन इस प्रकार के अध्ययन का केन्द्रीय प्रश्न है। साहित्य और विशेषकर उपन्यास में रचनाकार किसी खास तरह की पृष्ठभूमि में कुछ पात्रों के माध्यम से किसी घटना, संवेदना और विचारों का चित्रण करता है। इसे रचने और पुनर्सृजित करने की प्रक्रिया में उसके पास भाषा ही एक मात्र साधन होती है। रचनाकार उस पात्र और समाज को कितनी सफलता से रच सका है इसकी सार्थकता उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा पर निर्भर करती है। भाषा प्रयोग का सीधा संबंध रचनाकार के जीवनानुभव एवं उसके अपने पात्र और चरित्र के तादात्म्य पर निर्भर करता है। यहाँ यह दोहराना जरूरी है कि साहित्यकार भी समाज से ही भाषा अर्जित करता है पर साथ ही साथ उसके सामने साहित्य की लम्बी परंपरा होती है। इन दोनों माध्यमों से वह सामाजिक बोध, अनुभव और ज्ञान प्राप्त करता है। यह एक सफल संवेदनशील सर्जक की भूमिका होती है कि वह जो भाषा, समाज एवं साहित्यिक परंपरा से लेता है उसे वह पुन: नए सिरे से सृजित और निर्मित भी करे। उसे सृजित करने में साहित्य की परंपरा रचनाकार का मार्गदर्शन करती है। अत: कहा जा सकता है कि रचनाकार का भाषिक प्रयोग जितना सधा होगा, उसकी रचनाधर्मिता उतनी ही जीवंत और प्रभावशाली होगी। यही कारण है कि किसी साहित्य के समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन में रचनाकार की भाषा, सामाजिक परिवेश, रहन-सहन, पेशा, पारिवारिक संस्कार, सामाजिक संघर्ष आदि का अध्ययन जरूरी है, क्योंकि रचनाओं की पृष्ठभूमि, चरित्र और भाषा का रचनाकार के निजी जीवनानुभवों से गहरा संबंध होता है।

अब तक के अध्ययन से यह स्पष्ट हो चुका है कि ज्ञान की प्रत्येक शाखा एक-दूसरे से किसी न किसी रूप में जुड़ी होती है और परस्पर प्रभावित भी करती है। समाजभाषाविज्ञान भी इस प्रकार की धारणाओं का अपवाद नहीं है। यह अपने आप में एक स्वतंत्र अनुशासन तो है परंतु इसके अस्तित्त्व में समाजविज्ञान और नृविज्ञान अंतर्निहित है। समाजभाषाविज्ञान संज्ञा नृविज्ञानी Richard.c.hadson ने दी थी। इस शब्द का प्रथम प्रयोग भारतीय संदर्भ में किसा गया था। मनोविज्ञानियों का मानना है और यह अत्यंत प्रासंगिक भी है कि जीवन-जगत का समस्त क्रिया-व्यापार भाषा के माध्यम से ही संभव होता है। भाषा का समष्टिगत रूप ही समाज है। साहित्य में देखा जाए तो यहाँ भी सारी संभावना, संवेदना और कलाबाजी का प्रदर्शन भाषा के माध्यम से ही होता है। यहाँ तक कि मौन की अभिव्यंजना भी भाषा के माध्यम से ही होती है। अत: समस्त चिंतन, जीवन और साहित्य में भाषा व्याप्त है।

ऊपर कहा गया है कि ज्ञान की सभी शाखाएँ मसलन कला, विज्ञान, मानव-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, समाज-शास्त्र, भाषा-विज्ञान आदि एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इन सभी का किसी न किसी रूप में एक-दूसरे से या जीवन से परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से संबंध है। साहित्य और समाजभाषाविज्ञान का भी एक दूसरे से घनिष्ठ संबंध है। यह संबंध कई स्तरों पर स्पष्ट और कई स्तरों पर अस्पष्ट प्रतीत होता है। अध्याय के आरंभ में कहा जा चुका है कि साहित्य और समाजभाषाविज्ञान, दोनों के केंद्र में समाज और भाषा है। समाजभाषाविज्ञान भाषा को समाजसापेक्ष प्रतीक व्यवस्था के रूप में देखता है और साहित्य में यह सामजिक अस्मिता एवं रचनाधर्मिता को अभिव्यक्त करने वाला यह एकमात्र माध्यम है।

इस प्रकार से देखा जाए तो दोनों के अध्ययन के मूल स्रोत में भाषा ही है। दोनों के सामग्री के रूप में भाषा का ही विश्लेषण किया जाता है और यह कहना उपयुक्त होगा कि साहित्य का समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन मूल रूप में साहित्य की भाषा का समाजभाषावैज्ञानिक विश्लेषण है और इस विश्लेषण के लिए सामाजिक संजाल, वाक्-व्यापार, वार्तालाप सहयोग का सिद्धांत इत्यादि ऐसे मानक हैं जिनके द्वारा समाजभाषाविज्ञान और साहित्य दोनों को विश्लेषित किया जा सकता है या यों कहें कि दोनों के अंत:संबंधों को ये मानक पूर्णत: उद्घाटित करते हैं।

3.3 सामाजिक संजाल (social network)

नाम से ही स्पष्ट है कि वैसा जाल जो सामाजिक हो अर्थात् समाज को जोड़ने वाला हो। ऐसा देखा गया है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसान हो या शिक्षक, मजदूर हो या मालिक, जमींदार हो या डॉक्टर, छात्र हो या दूकानदार सभी एक दूसरे से जुड़े होते हैं। इसी जुड़ाव को 'सामाजिक संजाल' कहा जाता है। यह अवधारणा मूल रूप से नृविज्ञान है। राजेन्द्र मेस्त्री इसका परिचय इस तरह से देते है कि 'सामाजिक संजाल की अवधारणा का सफलतम प्रयोग मानवविज्ञानी शोध में औपचारिक और अनौपचारिक सामाजिक संबंधों का उल्लेख करने में किया जाता है।'[52]

सामाजिक संजाल के माध्यम से समाज में रह रहे लोग आपस में औपचारिक और अनौपचारिक रूप से जुड़े रहते हैं इस जुड़ाव के भी अनेक प्रक्रियाएँ और स्तर होते हैं। ऐसा देखा जाता है कि हर समाज में प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से जुड़ा होता है। आपसी लेन-देन एवं विचार-विनिमय करता है। परंतु ऐसा भी देखा गया है कि समाज में कुछ ऐसे भी लोग हैं जो एक दूसरे से समान रूप से नहीं जुड़े होते हैं। एक समाज में तो रहते हैं लेकिन संपर्क शून्यता की स्थिति बनी रहती है। इस आधार पर नृविज्ञानी "James और Lesley Milroy ने सामाजिक संजाल को विश्लेषित करने के लिए दो मानक निर्धारित किए हैं।"[53] -

1 घनत्व (density)

2 वैविध्य (multiplexcity)

घनत्व - घनत्व किसी समाज में रह रहे लोगों के बीच के आपसी संपर्क को दर्शाता है। यह आपसी संपर्क सामाजिक संजाल के परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है। प्रत्येक सामाजिक सरंचना में कोई न कोई केन्द्रीय व्यक्ति होता है जो समाज को सर्वसम्मति से नियंत्रित करता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में ग्राम पंचायत को इस रूप में देखा जा सकता है। इस प्रकार की सामाजिक सरंचना में ऐसा संभव है कि सामान्यत: समाज का प्रत्येक व्यक्ति केन्द्रीय व्यक्ति (ग्राम पंचायत के सदस्य) को जानता हो पर एक दूसरे को बहुत ज्यादा नहीं या बिल्कुल नहीं जानता हो। सामाजिक संजाल में इस तरह के संपर्क सूत्र को निम्न घनत्व वाला संजाल (low density network) कहा जाता है। दूसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि एक सामाजिक संजाल के सभी लोग एक दूसरे को जानते हों और प्राय: एक दूसरे से मिलते हों और बातचीत भी करते रहते हों। इस प्रकार के सामाजिक संजाल को high density network कहते हैं। इसे और भी स्पष्ट

करने के लिए राजेंद्र मेस्त्री के इस कथन को उद्धृत कर सकते हैं कि 'घनत्व किसी समाज के बीच लोगों के आपसी संपर्क को सूचित करता है। न्यूनतम घनत्व वाले सामाजिक संजाल में लोग प्राय: केन्द्रीय पात्र को ही जानते हैं किन्तु उच्च घनत्व वाले सामाजिक संजाल में लोग एक दूसरे को जानते हैं और लगातार संपर्क में रहते हैं।'[54]

वार्तालाप वैविध्य - प्राय: ऐसा देखा जाता है कि किसी एक समाज के लोग आपस में कई-कई स्तरों से जुड़े रहते हैं। कोई दो व्यक्ति भाई भी हो सकतेहैं, सहकर्मी भी हो सकते हैं, मित्र भी हो सकते हैं और रिश्तेदारी में भी आ सकते हैं। अर्थात् किसी भी आपसी संबंध के अनेक प्रकार हो सकते हैं। किसी सामाजिक संजाल में इस तरह के संपर्क को multiplex कहा जाता है। ऐसा संभव है कि समाज के लोग आपस में कई स्तर से जुड़े हों और कुछ ऐसे भी हों, जो केवल एक ही स्तर या संबंध के लिए आपस में जुड़े हों। नृविज्ञान में एक स्तर से जुड़े लोगों के आपसी संबंध को uniplex कहते हैं। राजेंद्र मेस्त्री ने 'जेम्स एवं लेस्लय मिलरॉय'[55] के हवाले से multiplexcity के बारे में अपनी पुस्तक introducing sociolinguistics में विस्तार से चर्चा की है। नृविज्ञान के इस सिंध्दांत को सीधे-सीधे समाजभाषाविज्ञान ने स्वीकार किया है। साहित्य में भी इस तरह के सामाजिक संजाल को देखा जा सकता है क्योंकि साहित्य में हम अंतत: सामाजिक संजाल की ही बात करते हैं।

3.4 वाक् व्यापार (speech act)

भाषा व्यवहार में कथन की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इसके बिना किसी भी संवाद की अर्थवत्ता निश्चित रूप से संभव नहीं है। सर्वज्ञात है कि भाषा व्यवहार प्राय: दो या दो से अधिक लोगों के बीच ही संभव है। इस संवाद के दौरान जो बातचीत होती है उसका कोई न कोई विषय होता है। विषयानुकूल बातचीत के आयाम बदलते रहते हैं। कोई बातचीत सामान्य तरीके से तो कभी प्रश्नवाचक शैली में, कभी आग्रह, आदेश, विस्मय इत्यादि के रूप में संपादित होती है। भाषा के इस विविध स्तर को वाक् व्यापार कहा जाता है। 'इस सिद्धांत के जनक जे.एल.ऑस्टिन हैं।'[56]

वाक् व्यवहार मूलतः एक संप्रेषण प्रक्रिया है। इसमें कथन में छिपे वक्ता के निहितार्थ और कारण तथा कथन के अनुसार श्रोता पर पड़े प्रभाव का विश्लेषण किया जाता है। "ऑस्टिन के अनुसार यह प्रक्रिया पांच प्रकार की होती है। निर्देशानात्मक, प्रतिबद्ध, भावात्मक, कथनात्मक, प्रतिनिधानात्मक।"[57]इन्हें वाक्यों में निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं-

1 आप वहाँ जाइए। (निर्देशानात्मक)

2 मैं आपको पुस्तक लाकर दूँगा। (प्रतिबद्ध)

3 मैं आपका स्वागत करता हूँ। (भावात्मक)

4 मैंने आज से तुम्हारा नाम किशन रख दिया। (कथनात्मक)

5 मैं समझता हूँ की आज वर्षा होगी। (प्रतिनिधानात्मक)

वाक्-व्यापार को परिभाषित करते हुए R.L.Trask ने लिखा है कि 'वाक्-व्यापार ऐसी शब्दावली है जो एक साथ कई अर्थों में प्रयोग की जाती है। परंतु आज मूल रूप से यह वाच्य-वृत्ति के लिए प्रयुक्त की जा रही है।'[58] रोनाल्ड वर्धो ने 'बातचीत के संपूर्ण व्यापार को वाक्-व्यापार कहा है।'[59]

वाक्-व्यापार में मूलतः तीन प्रक्रियाएँ होती हैं। पहली यह कि वक्ता किसी वाक्य का उच्चारण करता है। दूसरी इस उच्चारण में जो वक्ता का जो उद्देश्य होता है उसके अनुरूप उस कथन के उच्चारण पर जोड़ देता है या ध्वनि में उतार-चढ़ाव करता है। तीसरी यह कि वक्ता के उच्चरित वाक्य का श्रोता पर जो प्रभाव पड़ता है उसके अनुसार वह प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। "इन तीनों प्रक्रियाओं को स्पष्ट करने के लिए जे.एल.ऑस्टिन ने निम्नलिखित शब्दावली का प्रयोग किया है।"[60] -

वाच्य सामान्य (elocutionary)

वाच्य वृत्ति (illocutionary)

वाच्य प्रभाव (pelocutionary)

इसे स्पष्ट करते हुए ऑस्टिन ने बताया कि प्रत्येक कथन के तीन रूप होते हैं। एक उसका सामान्य रूप जैसे बस या अन्य वाहन में यात्रा के दौरान एक यात्री दूसरे यात्री से पूछता है - "यह सीट खाली है?" यह सामान्य वाक्य है, परंतु वक्ता इसमें एक साथ दो प्रकार के कथन को संप्रेषित कर रहा होता है। एक तो सामान्य सा प्रश्न है कि यहाँ कोई और बैठा है या नहीं तथा दूसरा उसमें एक आग्रह और निवेदन भी है। यह प्रश्नवाचकता और आग्रह ही इसका मूल कथ्य

है। कथ्य के इसी व्यापार को ऑस्टिन ने वाच्य वृत्ति कहा है। वक्ता के कथन के प्रभाव में ही श्रोता सीट देगा या नहीं देगा यह निर्भर करता है। अत: श्रोता पर जो प्रभाव पड़ा वह वाच्य प्रभाव है। समाजभाषाविज्ञान और साहित्य दोनों में इसका अध्ययन किया जाता है, अत: वाक्-व्यापार दोनों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

3.5 संवादात्मक सहयोग का सिद्धांत(principle of conversational cooperation)

जब दो या दो से अधिक लोगों के बीच वार्तालाप होता है तो उसमे मूल रूप से वाक्-व्यापार का आदान-प्रदान होता है। "वाक्-व्यापार के इस आदान-प्रदान का अध्ययन H.P.Grice ने 1975 से 1981 तक किया और सफल और सार्थक वार्तालाप के लिए कुछ नियम बनाए। इसे ही Maxim of Grice कहा जाता है।"[61] इन्होनें वार्तालाप में इन चार गुणों परिमाणात्मक, गुणात्मक, प्रासंगिक और तरीका का होना अनिवार्य माना है।

इस सिद्धांत में Grice ने यह बताने की कोशिश की है कि उतना ही जवाब दिया जाए जितना पूछा जाए, वही कहें जो संदर्भ से जुड़ा हो। जो गलत या संदिग्ध हो, ऐसी बातें या प्रमाण न दें। बातों को क्रमवार तरीके से कहा जाए। Grice ने रोजमर्रा के व्यवहार में इन्हें महत्त्वपूर्ण माना, बल्कि इनके बिना संवाद की संप्रेषणीयता को संदिग्ध भी करार दिया। इन्होने माना कि वक्ता के जिस कथन में इन चारों का समावेश होता है वह कथन पूर्णत: संप्रेषित होता है, अगर चारों में से किसी का भी अभाव हो तो संप्रेषण अपूर्ण और असफल हो जाता है। परंतु रोजमर्रा के जीवन में और साहित्य में प्राय: अनेक ऐसे संदर्भ आते हैं जिसमें एक वाक्य का दूसरे से तारतम्य बैठाना बहुत कठिन होता है परंतु संप्रेषण बाधित नहीं होता है।

उदाहरण स्वरूप - दोस्त 1 - मैंने पूरी पढ़ाई कर ली।

दोस्त 2 - परीक्षा के बाद सिनेमा देखने जाएंगे।

संवाद के स्तर पर देखा जाए तो एक का तारतम्य दूसरे से बिल्कुल नहीं बैठ रहा है। वक्ता जो कह रहा है श्रोता बिल्कुल वही जवाब नहीं दे रहा है परंतु जवाब दे रहा है। उत्तर और प्रति उत्तर का क्रम जारी है। इस तरह की वाक् घटना की Grice ने वार्तालाप सहयोग का सिद्धांत (principle of conversational cooperation) कहा है।

इस तरह की वाक् घटना के पीछे Grice का तर्क ये है कि प्राय:ऐसा होता है कि जब वक्ता और श्रोता दोनों एक ही विषय या लक्ष्य के संदर्भ में बात करते हैं तो वार्तालाप के उपरोक्त चारों नियमों के उल्लंघन के बावजूद संप्रेषणीयता बाधित नहीं होती है। इसे और भी स्पष्ट करते हुए रोनाल्डो वर्धों ने लिखा है कि 'दर्शनशास्त्री Grice के अनुसार हम बातचीत करने में सक्षम होते हैं क्योंकि एक सामान्य लक्ष्य को पहचानने और इसे पाने में सफल होते हैं, अर्थात् हम एक समान संदर्भ को साझा कर रहे होते हैं।'[62]

इस कथन में रोनाल्ड वर्धों ने वार्तालाप में उसके लक्ष्य को ज्यादा महत्त्व दिया और ये भी आवश्यक है। इस तरह के वार्तालाप का सामना रोज करते हैं। जीवन और समाज में इसकी अनेक झाँकियाँ देखने को मिलती है। साहित्य में भी इसके अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए निर्मल वर्मा की कहानी 'पिक्चर पोस्टकार्ड' का यह अंश देख सकते हैं।

" " पेपर कैसा हुआ ।"

" शायद अगली बार फिर आना पड़े ।"

"डोंट बि सिली ।" "[63]

वार्तालाप के इस क्रम में वाक्यों की तारतम्यता संदिग्ध है परंतु वक्ता और श्रोता एक दूसरे के कथन से स्वयं अर्थ निकाल रहे हैं और उसका प्रति उत्तर भी दे रहे हैं। यहाँ परीक्षा होने से जुड़े सवाल में पास होने या न होने का उत्तर दिया जा रहा है परंतु बात सीधे-सीधे नहीं परोक्ष रूप से कही जा रही है। यहाँ परिमाणात्मक, गुणात्मक, प्रासंगिक और तरीका के अभाव के बावजूद संवाद संप्रेषित हो रहा है।

जीवन और साहित्य के ऐसे अनेक सन्दर्भों को इस सिद्धांत के द्वारा विश्लेषित किया जा सकता है। समाजभाषाविज्ञान और साहित्य दोनों में इन तीनों सिद्धांतों को परतल कर सकते हैं। क्योंकि तीनों में भाषा और समाज के घात-प्रतिघात का अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है तथा साहित्य और समाज इनकी प्रयोगशालाएं हैं।

निष्कर्ष रूप से कहा जाए तो तो कह सकते हैं कि साहित्य, भाषा और समाज तीनों एक दूसरे में अंतर्निहित हैं। साहित्य में भाषा के माध्यम से किसी समाज का चित्रण किया जाता है। समाज की संपूर्ण अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है और भाषा के लिए समाज एक प्रयोगशाला है। सार रूप में कहें तो तीनों एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं। संस्कृति इन तीनों का योजक कड़ी है। समाजभाषाविज्ञान भाषा के सामाजिक सन्दर्भों की व्याख्या करता है। इस प्रकार देखा जाए तो साहित्य और समाजभाषाविज्ञान एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। दोनों के बीच की योजक कड़ी समाज और भाषा है। भाषा के बिना न ही साहित्य संभव है और न ही समाज। भाषा में ही साहित्य संभव है। साहित्य, समाज और सामाजिकता संभव हो इसके लिए भाषा का होना अनिवार्य है। यही वह स्रोत है जिसके द्वारा लगातार साहित्य से समाज में और समाज से साहित्य में आवाजाही का मार्ग बनता है। इस मार्ग को बनाने वाले अभियंता या शिल्पी को रचनाकार कहते हैं।

साहित्य में रचनाकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। रचनाकर अपने जीवन के अनुभवों को अपने साहित्य में रचता है। इसलिए उसकी भाषा और सामाजिक परिवेश साहित्य के समाजभाषाविज्ञान के विश्लेषण में महत्त्व रखते हैं।

साहित्य और समाजभाषाविज्ञान के इन साम्यताओं के अतिरिक्त भाषायी संजाल, वाक्-व्यापार और वार्तालाप सहयोग का सिद्धांत ऐसे मानक हैं, जो इनके अंत:संबंधों को विश्लेषित करते हैं। सामाजिक संजाल जिस तरह समाज के प्रत्येक व्यक्ति को भाषायी जुड़ाव के माध्यम से जुड़ता है उसी तरह साहित्य में भी एक पात्र दूसरे पात्र से जुड़ता है। वाक्-व्यापार और वार्तालाप सहयोग का सिद्धांत भी समान रूप से साहित्य और समाज में प्रयुक्त भाषा का विश्लेषण करता है।

इसलिए कह सकते हैं कि साहित्य समाजभाषाविज्ञान के लिए तथ्य उपलब्ध करता है और समाजभाषाविज्ञान साहित्य को विश्लेषित करता है। दोनों एक दूसरे को समझने और प्रमाणित करने की प्रक्रिया में साधन और साध्य का काम करते हैं। दोनों के नियामक भाषा और समाज हैं और इन्हीं के आधार पर इनके अंत:संबंधों को समझा और समझाया जा सकता है।

चतुर्थ अध्याय

बलचनमा का समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन

❖ बलचनमा का समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन

4.1 भाषायी भूगोल

4.2 बलचनमा में चित्रित भाषायी समाज

4.3 बलचनमा में अभिव्यक्त व्यक्ति बोली, समाज बोली

4.4 भाषा विकल्पन

4.4.1 शिक्षितों की भाषा

4.4.2 अशिक्षितों की भाषा

4.4.3 कांग्रेसी की भाषा

4.4.4 समाजवादी या सोशलिस्टों की भाषा

4.5 कूट-मिश्रण, कूट-अंतरण

4.5.1 कूट-मिश्रण, कूट-अंतरण

4.5.2 आयातित शब्द

4.5.3 बलचनमा में चित्रित कूट-मिश्रण एवं कूट-अंतरण

4.6 बहुभाषिकता

4.6.1 बलचनमा में चित्रित बहुभाषिकता

‘बलचनमा’ का समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन

द्वितीय अध्याय में समाजभाषाविज्ञान के विभिन्न मापदंडों पर विस्तृत चर्चा की गयी है। इस अध्याय में ‘बलचनमा’ में चित्रित समाजभाषाविज्ञान के मापदंड का विश्लेषण किया जायेगा। समाजभाषाविज्ञान के मापदंडों में व्यक्ति बोली, समाज-बोली, भाषा विकल्पन, बहुभाषिकता, कूट-मिश्रण, कूट-अंतरण, पिजिन, क्रियोल इत्यादि शामिल हैं। द्वितीय अध्याय में समाजभाषाविज्ञान की सैद्धांतिकी पर विचार करते हुए अनेक विद्वानों की समाजभाषावैज्ञानिक दृष्टियों पर विचार किया गया है।

यहाँ गौरतलब है कि इन भाषा चिंतकों द्वारा समाजभाषाविज्ञान पर जो भी कार्य किए गये हैं,वे बोली जाने वाली भाषा पर केन्द्रित हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि इन्होंने अपने शोध के लिए नमूने के तौर पर भाषा सीधे-सीधे समाज से ली है। लेकिन जब हम किसी साहित्यिक कृति का समाजभाषावैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं तो यहाँ हम लिखित भाषा का विश्लेषण करते हैं। अर्थात् नमूने के लिए रचनाकार द्वारा प्रयुक्त भाषा ही एक मात्र स्रोत होता है। प्रत्येक लेखक किसी न किसी खास समुदाय से होता है। उसकी अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश की समझ होती है। यही समझ उसके रचनात्मक जीवन का पोषण करती है। इसलिए समाज से प्राप्त भाषा के नमूने और साहित्यिक कृति से प्राप्त नमूने में अंतर होता है। कोई वक्ता जब बोल रहा होता है तो वह वाचिक, आंगिक और सांकेतिक तीनों तरह की भाषा का प्रयोग करता है, पर जब कोई रचनाकार किसी समाज या व्यक्ति की कहानी लिखता है तो माध्यम के रूप में उसके पास भाषा का सिर्फ लिखित रूप होता है। लिखित माध्यम से ही उसे अपनी संपूर्ण संभावनाओं को अभिव्यक्त करना होता है। रचनाकार एक विशेष व्यक्ति, समुदाय या क्षेत्र की कथा कहता है

और उसका उद्देश्य पाठकों तक अपनी कथा संप्रेषित करना होता है। ऐसी स्थिति में लेखक अपनी अभिव्यक्ति के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जो कथा और पात्र के साथ न्याय करती हो और पाठकों को भी आसानी से समझ में आ जाए। हिंदी में इस तरह के अनेक प्रयास हुए हैं मसलन 'देहाती दुनिया', रतिनाथ की चाची, मैला आँचल, आधा गाँव इत्यादि। इन्होंने अपने पात्र, चरित्र और कथा की प्रमाणिकता के लिए जिस सृजनात्मक भाषा का प्रयोग किया है वह बिल्कुल वही नहीं है जो उस कथाक्षेत्र के लोग बोलते है और न ही मानक हिंदी है। बल्कि हम कह सकते हैं कि इन्होंने अपनी कथा कहने के लिए स्वयं एक ऐसी भाषा निर्मित की है जो इनकी आवश्यकता के अनुरूप हो। नागार्जुन के उपन्यासों में प्रयुक्त भाषा के आधार पर 'बलचनमा' का विश्लेषण करेंगे तो पायेंगे की इन्होंने अत्यंत जीवंतता के साथ भाषा के माध्यम से पात्रों का सजीव चित्रण करने का प्रयास किया गया है।

इस अध्याय में नागार्जुन कृत 'बलचनमा' की भाषा का अध्ययन समाजभाषाविज्ञान के मानकों के आधार पर की जाएगी। द्वितीय अध्याय में इन मानकों का विस्तृत वर्णन दिया गया है। यहाँ हम उन मानकों का को केंद्र में रखकर 'बलचनमा' की भाषा का विश्लेषण करेंगे।

4.1 भाषायी भूगोल

हिंदी प्रदेश का फैलाव बिहार से लेकर राजस्थान तक और हिमाचल प्रदेश से लेकर मध्य प्रदेश तक है। यूँ तो हिंदी का अभिप्राय खड़ी बोली हिंदी से है परंतु इस विशाल हिंदी पट्टी की सामान्य जनता की भाषा खड़ी बोली हिंदी न होकर हिंदी का क्षेत्रीय रूप है, जिन्हें विभिन्न नामों से जाना जाता है। बिहार में बिहारी बोली जाती है। इसके विभिन्न रूप मैथिली, भोजपुरी, अंगिका, मगही, बज्जिका आदि हैं। उत्तर प्रदेश में भोजपुरी, कन्नौजी, अवधी, ब्रज, बघेली, खड़ी बोली आदि बोलियाँ बोली जाती हैं। राजस्थान में राजस्थानी, मारवाड़ी, आदि बोलियाँ सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त होती है। इसी तरह मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड, झारखण्ड, और छत्तीसगढ़ में हिंदी के विविध रूप सामान्य बोलचाल में आम लोगों में प्रचलित हैं।

हिंदी प्रदेश की भाषा एवं उसके भाषा-रूपों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये आपस में बोधगम्य होती हैं। अभिप्राय यह है कि आस-पास या दूर-दूर तक बोली जाने वाली भाषाओं के वक्ता एक दूसरे की भाषा समझ सकते हैं और आपस में संवाद भी स्थापित कर सकते हैं। इसका प्रमुख कारण हिंदी प्रदेश की सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्वों की समानता है। कुछ

विकल्पन के साथ सभी भाषा-रूपों के शब्द-भंडार लगभग एक जैसे हैं। इस क्षेत्र की सामाजिक सरंचना में साम्यता होने के कारण यहाँ की बोलियाँ एक-दूसरे से अलग होते हुए भी आसानी से बोधगम्य हैं। बिहार में मुख्य रूप से पांच भाषाएँ पाई जाती हैं मैथिली, मगही, भोजपुरी, अंगिका और बज्जिका; परंतु बंग्ला और नेपाली इसकी सीमावर्ती भाषाएँ हैं इसलिए इनके भी भाषायी समाज बिहार के इन क्षेत्रों में पाए जाते हैं। साथ ही यहाँ अनेक आदिवासी समुदाय रहते हैं, जिनकी मातृभाषाएँ अलग-अलग आदिवासी भाषाएँ हैं। संथाली भी इन्हीं में से एक है।

बिहार की भाषाओं के बारे में कई विद्वानों ने अपने शोधपरक मंतव्य व्यक्त किए हैं।'डॉ कैलाशचंद भाटिया ने भाषा-भूगोल की चर्चा करते हुए बिहारी भाषा के अंतर्गत मैथिली, भोजपुरी, मगही, बज्जिका की चर्चा की है। इस भाषाओं के क्षेत्र के बारे में भी पर्याप्त सूचना दी है।'[64]'सर जार्ज अब्राहम ग्रियसन ने 'भारतीय भाषा सर्वेक्षण' के पाँचवे खंड के दूसरे भाग में बिहारी बोलियों का विस्तृत वर्णन दिया है। सामान्य परिचय में बिहारी बोलियों के बारे में लिखते हैं कि 'यहाँ तीन मुख्य बोलियाँ एवं इनकी कई उप-बोलियाँ हैं। इन तीन में मैथिली और मगही को एक श्रेणी में और भोजपुरी को दूसरी श्रेणी में रखा जा सकता है। इसकी व्याख्या के वे कई आधार प्रस्तुत करते हैं। वे इन भाषाओं में द्वितीय वचन के लिए आदरसूचक शब्दों का आधार प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि मैथिली और मगही में इसके लिए 'अपने' का प्रयोग होता है जबकि भोजपुरी में 'रउरे' का प्रयोग करते हैं। वर्त्तमानकालिक क्रिया के लिए मैथिली में 'छै' या 'अछ' का प्रयोग होता है, मगही में 'हैय' का जबकि भोजपुरी में 'बाटे', 'बारा' या 'हवा' का प्रयोग किया जाता है।'[65]

किसी साहित्य के समाजभाषावैज्ञानिक विश्लेषण में भाषा विश्लेषण का सर्वाधिक महत्त्व है। यहाँ भाषा विश्लेषण का अर्थ उपन्यास में प्रयुक्त भाषाएँ या भाषा रूपों की पहचान से नहीं है। किसी उपन्यास में कितनी भाषाएँ अथवा भाषा रूप प्रयुक्त हुई हैं यह उसकी कथावस्तु, पात्र या रचनाकार के भाषायी सामर्थ्य पर निर्भर करता है। इस दृष्टि से नागार्जुन के उपन्यासों के पात्र, कथानक एवं स्वयं रचनाकार समूचे हिंदी साहित्य में बेजोड़ हैं। बलचनमा उपन्यास के पात्र, चरित्र और कथानक जितने सहज हैं उतने ही संश्लिष्ट भी; संवेदना, भाषा और भाव सभी स्तरों पर। नागार्जुन स्वयं अनेक भाषाएँ जानते थे मसलन मानक-हिंदी, मैथिली, भोजपुरी, बंगला, अंग्रेजी, संस्कृत, अंगिका, बज्जिका, मगही, इत्यादि। यहीं कारण है कि इनके उपन्यासों एवं कहानियों में अनेक भाषायी समाज अत्यंत सहज, स्वाभाविक और सफल ढंग से चित्रित हुए

हैं।नागार्जुन का कथा क्षेत्र ज्यादा व्यापक है; उनके भाषा में उतनी ही वैविध्यपूर्णता है। इनका प्रत्येक पात्र अपने व्यक्तित्व को लेकर जितना सजग है उतना ही अपनी भाषायी अस्मिता और पहचान को लेकर सचेत भी। इन्हीं रचनाओं में उनकी एक रचना है 'बलचनमा'।

उपर्युक्त विश्लेषण के अनुसार कह सकते हैं कि किसी भी आंचलिक उपन्यास का विश्लेषण करने के लिए वहाँ की भौगोलिक स्थिति की जानकारी होना अत्यंत जरूरी है। आंचलिक उपन्यास की भाषा का विश्लेषण करने के लिए वहाँ के आस-पास की भाषा की जानकारी भी होनी चाहिए। बिहार में मुख्यतः भाषा में मैथिली और भोजपुरी की प्रधानता है। नागार्जुन के उपन्यास में भी वहाँ की बोली का समावेश है जो उनके आंचलिकता में चारचाँद लगा रहा है।

4.2 बलचनमा में चित्रित भाषायीसमाज

कथा साहित्य में भाषा शैली का विशेष महत्त्व होता है क्योंकि कथा में रोचकता और प्रभावोत्पादकता तथा पात्रों का चरित्र-चित्रण भाषा और शैली द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। विषयानुकूल भाषा और उत्तम शैली से ही कथा मेंमँजाव और परिनिष्ठिता आती है। कतिपय उपन्यासों में तो मात्र भाषा की विशिष्टता ही दिखाई पड़ती है। भाषा हमेशा देश काल और पात्रानुकूल ही होनी चाहिए तभी कथा में प्रभावमयता होगी और वह कृति श्रेष्ठ बन पाएगी। आंचलिक उपन्यासों में अंचल विशेष की भाषा की प्रधानता होती है जैसे अंचल विशेष की मुहावरें, लोकोतियाँ, तद्भव शब्दों का प्रयोग, रीति-रिवाज, रूढ़िवादिता, लोकगीत, अंधविश्वास, परंपरागत मान्यताएं, त्यौहार-उत्सव, पर्व, इत्यादि की प्रमुखता होती है। नागार्जुन कृत 'बलचनमा' इसका एक बहुत ही उत्कृष्ठ उदाहरण है।

भाषा शैली की दृष्टि से नागार्जुन के उपन्यास श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं क्योंकि इनके उपन्यासों में विषय एवं पात्रानुकूल भाषा की सृष्टि की गयी है। नागार्जुन कई तरह की भाषाएँ अच्छी तरह जानते थे। उपन्यासकार ने अपने पात्रों के मुंह से अच्छी तरह उसी भाषा को बुलवाया है। 'बाबा बटेसरनाथ' में एक वट वृक्ष के द्वारा कथा कही गयी है जो अपने आप में एक नवीन प्रयोग कहा जा सकता है। इसी तरह 'बलचनमा', 'वरुण के बेटे', 'रतिनाथ की चाची', 'दुखमोचन' आंचलिक उपन्यास कहे जा सकते हैं। आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता के निर्वाह के साथ-साथ भाषा-शैली का भी विशेष ध्यान रखना पड़ता है जिससे पूरा आंचलिक परिवेश उभर सके तथा वहाँ के रीति-रिवाज एवं पारम्परिकता पात्रों के बोलचाल के माध्यम से ही सजीव हो सके।

'बलचनमा' में आंचलिक शब्दों के माध्यम से गाँव का यथार्थ जीवन उजागर हुआ है। 'बलचनमा' मिथिला जीवन पर आधारित उपन्यास है इसलिए भाषा पर मैथिली का प्रभाव देखा जा सकता है। 'बलचनमा' में पात्रों का कथन मैथिली में दिखाई देता है जैसे -"इस ओसरे पर छः महीने का चिलका गला पकड़-पकड़ कर मर जाय तो उस ओसरे पर बैठी चिल्काउर को पता न चलेगा।"[66] "हिलती-डुलती गाड़ी में ऐसा लग रहा था कि मलकाईन के कलमबाग में मचकी झूल रहा हूँ। नीचे पैर के बिल्कुल नीचे रेल के पहिये हडाक-हडाक कर रहे थे। जुड़े हुए डब्बे ढबर-ढबर बोल रहे थे। एंजन झज्झ काली करती चली जा रही थी।"[67] इस कथन से क्षेत्रीय भाषा का पता चलता है। क्षेत्रीय भाषा प्रयोग सर्जन की अनिवार्यता के रूप में करते हुए एक ओर स्थान विशेष के वातावरण को प्रमाणिकता देता है दूसरी ओर वहाँ के जीवन को उस जीवन की सहजता और जीवंतता के साथ अंकित करता है। क्षेत्रीय भाषा की एक बड़ी शक्ति यह है कि उसमे वहाँ के लोगों का संस्कार, उनकी अनुभूतियाँ, उनके सुख-दुःख, रीति-रिवाज, आचार-विचार आदि व्यक्त होते हैं जो उनके अस्तित्त्व के द्योतक होते हैं। बहुत से भाव, बहुत से यथार्थ और बहुत से संवेदनाएं ऐसी हो सकती है जो अंचल विशेष के जीवन के साथ घनिष्ठ रूप से संबंधित हो और उसकी अभिव्यंजना के लिए किसी और भाषा में उपयुक्त शब्द न हो। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नागार्जुन अंचल की बोली या भाषा या स्थानीय शब्दों का प्रयोग करते हैं। इसी का उदाहरण 'बलचनमा' में मिलता है। क्षेत्रीय बोली और भाषा के प्रयोग के कारण इस उपन्यास में यथार्थता और जीवंतता आ गयी है।

'बलचनमा' में मुहावरों और लोकोक्तियों का भी समावेश हुआ है। मुहावरे और तद्भव शब्दों का प्रयोग खूब देखा जा सकता है। मुहावरों का भी प्रयोग अन्यत्र मिल जाता है, जैसे "खग ही जानै खग की भाखा।"[68] लोकोक्तियों जैसे "आन गामक पोखरि अपना गामक गाछि।"[69] ऐसे अनेक मुहावरे और लोकोक्तियाँ 'बलचनमा' में उद्धृत हुएहैं। इस प्रकार के चित्रों से पूरा परिवेश पाठक के सामने उभरकर आता है। मुहावरे, लोकोक्तियाँ, तद्भव, मिथक जैसे आंचलिक शिल्प के प्रयोग से अंचल विशेष के जन जीवन की धड़कन सुनी जा सकती है। विरोध, कुकराम नागिय, माला, घिरनी, मसोमात आदि शब्दों का प्रयोग 'बलचनमा' में हुआ है और इससे कथा और अधिक स्वाभाविक बन गई है। इसमें लोकगीत का भी समावेश हुआ है जैसे धान रुपाई के समय का गीत, बागों में आम के मौसम में कोयल का गीत -"सखी है मजरल आमक बाग, कहू-कहू चिकर ए कोयलिया, झींगुर गावें फाग।"[70] अंचल विशेष के इन उपमानों या प्रतीकों के प्रयोग से भाषा और अधिक समृद्ध हो जाती है और 'बलचनमा' में इन उपमानों और प्रतीकों का प्रयोग बखूबी हुआ है और इसी कारण 'बलचनमा' आंचलिक उपन्यासों की कोटि में उच्च श्रेणी में आता है।

इस प्रकार कह सकते हैं कि 'बलचनमा' में भाषा को सुदृढ़ बनाने के लिए जिन आंचलिक तत्वों, वस्तुओं, संस्कारों, सामाजिक रूढ़ियाँ, विधि-विधानों की चर्चा की गयी है वे अत्यंत सहज और सजीव लगतेहैं। भाषा और शैली भी प्रसंग के अनुकूल है। आंचलिक तत्वों का बहुत ही सही और सीधे तरीके से प्रयोग नागार्जुन ने किया है। आंचलिक तत्वों और आंचलिक भाषा के कारण आंचलिक उपन्यासों में 'बलचनमा' का नाम अग्रणी है।

4.3 'बलचनमा' में अभिव्यक्त व्यक्ति बोली, समाज बोली

व्यक्ति बोली, समाज बोली की दृष्टि से 'बलचनमा' एक महत्त्वपूर्ण कृति है। यहाँ अनेक प्रकार के भाषायी समाज और भाषा की अभिव्यक्ति अत्यंत सजग और सफलतापूर्वक की गयी है। लेखक ने प्रत्येक पात्र को गढ़ने का प्रयास किया है इसलिए व्यक्ति और समाज दोनों अपनी भाषायी अस्मिता को बनाए रखने में समर्थ दिखाई देते है। 'बलचनमा' में लेखक ने कुछ पात्रों की भाषा को इस बारीकी से गढ़ा है कि एक बार उपन्यास में किसी पात्र से परिचित हो जाने के बाद जब पाठक अन्यत्र इन्हीं के दूसरे संवाद पढ़ता है तो दोबारा नाम और परिचय की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह वैयक्तिकता पात्रों के शब्द चयन से लेकर शब्द-प्रयोग, वाक्य-रचना, उच्चारण आदि में दिखाई देते हैं।

'बलचनमा' के प्रत्येक पात्र एक दूसरे को सीधे-सीधे या परोक्ष रूप से जानते हैं। चूँकि समाज में सघनता है इसलिए समाज का प्रत्येक सदस्य एक दूसरे से लगातार संपर्क में है। लगातार संपर्क में रहने के कारण सभी की भाषा में एक प्रकार की समानता दिखाई देती है। यही कारण है की प्रत्येक पात्र की भाषा विशिष्ट होने के बावजूद एक जैसी है। भाषा के इस रूप को व्यक्ति-बोली न कह कर समाज-बोली कहना ज्यादा युक्तिसंगत होगा। उदाहरण के लिए निम्नलिखित कथनों को देख सकते हैं।

दादी - "क्या कमी है, मलकाइन आप लोगों के यहाँ? आप ही का तो आसरा है, नहीं तो हम गरीब जनमते ही **नोन** न चटा दें! अरे, अपना जूठन खिलाकर, अपना **फेरन-फारन** पहनाकर आप ही तो हमारा **पर्तपाल** करती हैं....।"[71]

छोटी मलकाइन - "कंधे के सहारे बच्चे को ले ले और घूमघाम...माँ ने तुझे ठूंस-ठूंसकर खाना तो खूब सिखला दिया है **मुदा** फूल-सा हल्का बच्चा भी तुझसे नहीं संभलता... कोढ़िया!"[72]

इन पात्रों के कथन से पता चलता है कि इन पात्रों के कथन मानक हिंदी में हैं। परंतु इनमें अनेक तद्भव और देशज शब्दों का प्रयोग हुआ है, मसलन **नोन**(नमक), **पर्तपाल**(रक्षा), **हाँहुत्ती**(उतावला), **भकोस**(ठूंसना), **मुदा**(मतलब) इत्यादि। उपन्यास के अन्य पात्र भी इसी तरह के शब्दों का प्रयोग करते हैं। उपन्यास के अधिकांश कथनों में देशज और तद्भव शब्दों का पप्रयोग मिलता है। रामपुर का सारा समाज चाहे वह किसी भी जाति या समुदाय का हो, इसी तरह के भाषा का प्रयोग करता है। अत: मानक हिंदी के तद्भव और देशज शब्दावली के मिश्रित रूप को रामपुर और उसके आस-पास की जगह को समाज-बोली कह सकते हैं।

उपन्यास में इसके अलावा भाषा में भिन्नता भी देखी गयी है। पटना जाते हुए जब बलचनमा दरभंगा स्टेशन पर पहुँचता है तो वहाँ की भाषा से वह आश्चर्य में पड़ जाता है। वह दरभंगा स्टेशन को देख कर मन में सोचता है "रूप-रंग के साथ यहाँ लोगों की बोली भी बदली थी। यह काह-कहे सुनने का पहला मौका था मेरे लिए। अपने गाँव में पड़ोस में सैयदपुर के मियाँ लोगों को पजामा पहने देखा था, मुदा बोली तो हमारी उनकी एक ही थी। सामने दो पजामाधारी फर-फर बतिया रहे थे, यही काह-कुहे की बोली में। अब तो भैया, कानों को आदत पड़ गई है। मगर पहिले-पहिल जब यह बोली सुनी थी, तो ऐसा लगा था, जाने कोई कानों में खूंटा ठोंकता जा रहा है। अब तो मुझे भी इसी बोली की लत पड़ गई है। अपनी बोली भूलता जा रहा हूँ।"[73] बहुभाषिकता का उदाहरण इस कथन से पता चलता है।

4.4 भाषा विकल्पन

भाषा विकल्पन इस उपन्यास की सब से बड़ी भाषायी विशेषता है। लेखक ने प्रत्येक स्तर को भाषा के माध्यम से अलग-अलग करने का प्रयास किया गया है। गरीब-अमीर लोगों की भाषा, अलग-अलग राजनीतिक दलों की भाषा को यथासंभव अलग-अलग रखने का प्रयास किया गया है।

(4.4.1) शिक्षितों की भाषा

उपन्यास में जितने भी शिक्षित पात्र हैं, सभी मानक हिंदी का प्रयोग करते हैं।और साथ ही अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग करते हैं।उदाहरण स्वरूप इस कथन को देख सकते हैं।

मोहन बाबू - "मालिक तुम्हारे पकड़े गए हैं। फूल-माला पहनकर जेल चले गये हैं। तुझे अकेला डर मालूम होता होगा, तो चल हमारे घर। फूल बाबू का सारा सामान तब तक यहाँ बंद रहेगा। तू रहना हमारे साथ।"[74]

मोहन बाबू की अम्मा - "फूल बाबू को यह क्या सनक सवार हुई? गाँधी ने भले घर के लड़कों को बिगाड़ने का ठेका ले लिया है क्या? पढ़ाई-लिखाई छोड़कर **कॉलेज** के लड़के अब क्या नमक ही बनाया करेंगे ?"[75]

इस उपन्यास में शिक्षितों द्वारा या तो मानक हिंदी बोली जाती है, नहीं तो अंग्रेजी मिश्रित हिंदी।

(4.4.2) अशिक्षितों की भाषा

इसी तरह उपन्यास में अशिक्षितों द्वारा देशज और तद्भव मिश्रित हिंदी का प्रयोग किया गया है। उदाहरणस्वरूप हम निम्न कथनों को ले सकते हैं :

बलचनमा - "**जहल** होगा की **जरिमाना** पता नहीं।"[76]

राधा बाबू की पत्नी - "ना भाई, तुम्हारा यह काम तुम्हीं को मुबारक! मैं अपढ़ ही भली हूँ....लँगोटी लगा लो और जटा बढ़ा लो, बाज आई मैं तुम्हारे इस **चर्खे** से! तुम्हें तो औरत होकर जनम लेना था, बड़ा ही **किरोध** होता है मुझे विधाता पर...।"[77]

बलचनमा और राधा बाबू की पत्नी दोनों ही अशिक्षित पात्र हैं। इनके संवादों को ध्यान से देखें तो पता चलता है कि व्याकरणिक सरंचना तो मानक-हिंदी की ही है पर कई शब्दों का तद्भवीकरण कर दिया गया है।

इन दोनों श्रेणी के पात्रों को देखने से पता चलता है कि नागार्जुन ने दोनों की आधार भाषा मानक हिंदी रखी है, पर शिक्षितों की भाषा में अंग्रेजी और शुद्ध हिंदी का प्रयोग देखने को मिलता है जबकि अशिक्षितों की भाषा में तद्भव और देशज शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस

तरह की भाषायी प्रयोग नागार्जुन ने पात्रों की चारित्रिक विशेषता और सामाजिक अस्मिता को बनाए रखने के लिए किया गया है।

भाषा विकल्पन की दृष्टि से 'बलचनमा' में चित्रित राजनीतिक दलों की भाषा अत्यंत उल्लेखनीय और विश्लेषण योग्य है। उपन्यास में दो तरह के राजनीतिक दलों का जिक्र किया गया है पहला कांग्रेस और दूसरा समाजवादी। सभी राजनीतिक दलों की अपनी-अपनी विचारधारा और उद्देश्य है।

(4.4.3) कांग्रेसी की भाषा

उपन्यास में कई जगहों सदस्यों का जिक्र किया गया है। चूँकि भारत में हमेशा से ही सत्ता पर कांग्रेस का वर्चस्व रहा है, इसलिए इसकी भाषा तटस्थ और कुलीन है। उस समय कांग्रेसियों पर सबसे ज्यादा प्रभाव गाँधी के विचारों का था। इसलिए वैसे पात्र जो गाँधी के विचारों में विश्वास रखते हैं उनकी भाषा में चरखा, सत्य, अहिंसा, सेवाभाव आदि शब्दों की बहुलता है। उदाहरण के लिए इन कथनों को देख सकते हैं:

फूल बाबू - "मुझे तो अब गाँव-घर से कोई भी तालुक नहीं रहा। माँ और बाबूजी भी अब मुझसे हार मान बैठे हैं। पहले चिट्ठी लिख कर बात-विचार पूछते थे। जब मेरी और से लगातार उन्होंने उदासी देखी तो अब उस तरह की बात चिट्ठी में भी नहीं लिखते हैं। पीसी के यहाँ दो साल से मैं नहीं गया हूँ। पीसा से भेंट-मुलाकात किए तीन बरख हो गए हैं। बालचन, अब तू ही बता कि ऐसी हालत में मेरी किसी बात का तुम्हारे मालिक पर कितना असर करेगा।"[78]

फूल बाबू गाँधीवादी विचारधरा से बहुत प्रभावित थे। बलचनमा फूल बाबू के बारे में सोचते हुए कहता है कि "मैंने देखा मालिक बहुत बदल गए थे। सुबह-शाम **गाँधी-जी** का भजन गाते थे। जेल से ही गीता की एक पोथी ले आए थे। इधर अगले ही दिन चरखा खरीद लाये। अरे भैया वही **चरखा** जो छोटे से बक्से में बंद रहता। खाना पीना भी उनका बदल गया। मसाला-मिरचाई कुछ नहीं तरकारी उसिन का खाते थे...।"[79]

कांग्रेस गांधीजी के विचारों से प्रभावित थे। फूल बाबू भी कांग्रेसी थे। इसलिए उनके द्वारा कहे गये कथन में अहिंसा दिखाई देती है। चरखा, गाँधी-जी का भजन गाना ये सब शब्द कांग्रेसी होने की पहचान बताता है।

(4.4.4) समाजवादी या सोशलिस्टों की भाषा

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में गाँधी के विचारों के विशेष प्रभाव के कारण अहिंसात्मक संघर्ष पर विशेष बल दिया गया। परंतु ऐसे भी लोग थे जो इस तरह की लड़ाई को कायरता समझते थे। सोशलिस्ट पार्टी ऐसे ही तरह के लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। इनकी भाषा में संघर्ष की तत्परता और खूनी क्रांति का जोश दिखाई पड़ता है। जमींदारों से बगावत इस पार्टी के द्वारा की जाती है। राधा बाबू पहले कांग्रेसी थे लेकिन बाद में सोशलिस्ट हो गये। इनके साथ और भी लोग थे जो सोशलिस्ट बन गये हैं। इनकी भाषा के नमूने देख सकते हैं। :

स्वामी जी - "बाहरी लीडरों के भरोसे मत रहिये, अपना नेता आप खुद बनिए। मँगनी और उधर के बाहरी नेता बहुत देखे, मगर कुछ हुआ-हवाया नहीं। माना की नेता पढ़े-लिखे होते हैं और आप अपढ़ अनजान हैं, लेकिन गेहूँ-चावल, दूध-घी, तिलहन-कपास सब कुछ आप ही पैदा करते हैं, लीडर लोग तो आपकी ही कमाई का हलवा खाकर लेक्चर देने आते हैं और अपने दिमाग और पेट की बदहमजी मिटाते हैं... आप लोग लीडरों से लाख दर्जे अच्छे हैं। आप सब कुछ पैदा करते हैं तो अपना लीडर भी अपने यहाँ ही पैदा कीजिए। जो आपका आदमी होगा वही आपकी तकलीफ को समझेगा, जेक पॉव न फटी बिवाई सो क्या जाने पीर पराई... किसान भाइयों अब आप जग गये हैं। खानबहादुर हो या महाराज बहादुर, कोई आपका हक़ नहीं छीन पाएगा। आप अपनी ताकत को पहचानिए, बोलिए सब मिलकर इन्किलाब...।"[80]

शर्मा जी - "रहिमन चाक कुम्हार का मांगे दिया न देय

बिल में डंडा डाल के जो चाहे गढ़ी लेय

किसान भाइयों, माँगने से कुछ नहीं मिलेगा। अपनी ताकत से ही अपना हक़ पा सकते हैं। आपकी ताकत क्या है? एका है आपकी ताकत, संगठन। घर में रोते-रोते, अकेले हाय-हाय करते-करते हजारों साल गुजर गए। सरकार को आपकी रत्ती भर भी परवाह नहीं है... तुम सभी एक और मजबूत होकर अपनी जमीनों पर डटे ही रह गए तो वह पैसे के बल से तंग करेगा। सैकड़ों

आदमियों को ले जाने के लिए हजारों सिपाही और पचीसों लारियाँ चाहिए... फिर देखना कौन तुम लोगों को कैसे कहाँ ले जाता है! अगर तुमने मेरी ये बातें मान लीं और डटे रहने का निश्चय कर लिया तो फिर तुम्हारे खेतों पर से तुम्हें हटानेवाली कोई ताकत इस दुनिया में नहीं है। जमींदार, सरकार, पुलिस, गुंडे...सभी थक के बैठ जाएंगे।”[81]

ये सभी पात्र मार्क्सवादी विचारधारा के अनुयायी हैं। इसलिए इनके संवादों में वर्ग-संघर्ष, क्रांति, किसान, मजदूर शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है।

उपर्युक्त राजनीतिक दलों से जुड़े पात्रों की भाषा के विश्लेषण से पता चलता है कि कांग्रेस की भाषा में गाँधी के प्रभाव के कारण सत्य, अहिंसा आदि विचारों से युक्त शब्दावली का प्रयोग दिखाई पड़ता है। सोशलिस्ट की भाषा वामपंथी विचारों का पोषण करती है। इस तरह की भाषायी प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि लेखक ने भाषा के माध्यम से पार्टी और पार्टी के सदस्यों का चरित्र-चित्रण तो किया ही है साथ ही साथ भाषायी विभिन्नता के द्वारा राजनीतिक और राजनीतिक अस्मिता को भी उभारने का प्रयास किया है। इस तरह की भाषायी विभिन्नता को राजनीतिक भाषा-विकल्पन के रूप में देख सकते हैं।

निष्कर्षत: कह सकते है कि बलचनमा में लेखक ने जाने-अनजाने में व्यक्ति-बोली, समाज-बोली, और भाषा-विकल्पन की अभिव्यक्ति का सफल प्रयास किया है। लेखक ने कथा और पात्रों के संप्रेषण को अधिक महत्त्व दिया है। समाज-बोली की दृष्टि से यह उपन्यास महत्वपूर्ण उपन्यास है। गाँव के जितने भी पात्र हैं, या यूँ कहे की गाँव का जो समाज है उसकी भाषा बाहर के लोगों की भाषा से अलग है। अत: इसे अलग-अलग समाजों की भाषा या समाज-बोली कह सकते हैं। भाषा-विकल्पन की दृष्टि से भी यह अत्यंत प्रभावशाली उपन्यास है। लेखक ने प्रत्येक समाज और राजनीतिक दलों की भाषा में विभिन्नता रखी है। यहाँ भाषा प्रत्येक पात्रों की सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता का भी सूचक है। नागार्जुन ने समाज के विभिन्न वर्ग चाहे वह किसान हो या जमींदार सभी को भाषा के माध्यम से चित्रित करने का प्रयास किया है। इनका यही प्रयास भाषा-विकल्पन की अभिव्यक्ति को सटीक और सशक्त रूप से उभारता है। अत: हम कह सकते हैं कि ‘बलचनमा’ में समाज-बोली, भाषा-विकल्पन की अभिव्यक्ति का सफल प्रयास किया गया है।

4.5 कूट-मिश्रण, कूट-अंतरण

कूट-मिश्रण, कूट-अंतरण एवं बहुभाषिकता समाजभाषाविज्ञान के महत्त्वपूर्ण उपकरण हैं। समाजभाषावैज्ञानिकों ने इन उपकरणों के माध्यम से भाषा के अध्ययन और विश्लेषण को एक नया आयाम दिया है। इन उपकरणों की सहायता से भाषा अध्ययन के नये आयाम उभर कर सामने आए हैं। समाज, भाषा के लिए प्रयोगशाला का काम करता है। पहले की तुलना में आज व्यक्ति और समाज का मेल-जोल काफी बढ़ा है। इससे भाषायी संपर्क भी दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है। भाषायी संपर्क के कारण भाषा की बाह्य और आंतरिक सरंचना में लगातार परिवर्तन हो रहे हैं। इस भाषायी मेलजोल ने भाषा और भाषायी समाज को अनेक रूप से प्रभावित किया है। कूट-मिश्रण, कूट-अंतरण एवं बहुभाषिकता इन्हीं भाषायी मेलजोल के परिणाम या उत्पाद हैं।

(4.5.1) कूट-मिश्रण, कूट-अंतरण

द्वितीय अध्याय में कूट-मिश्रण और कूट-अंतरण का विस्तृत विवरण दिया गया है। यहाँ 'बलचनमा' में प्रयुक्त कूट-मिश्रण और कूट-अंतरण पर विचार किया जा रहा है। इससे पहले की 'बलचनमा' में प्रयुक्त कूट-मिश्रण एवं कूट-अंतरण पर विचार किया जाए कुछ बातों को दोहराना अनिवार्य होगा।

कूट-मिश्रण और कूट-अंतरण पर विचार करते हुए कहा जा चुका है कि वार्तालाप में जब दो या दो से अधिक भाषाओं के शब्दों या पदों का प्रयोग एक ही वाक्य में किया जाए तो उसे कूट-मिश्रण कहते हैं, पर जब वार्तालाप में एक वाक्य किसी एक भाषा का और दूसरा वाक्य किसी दूसरी भाषा का एक साथ प्रयोग किया जाए तो भाषा व्यवहार की ऐसी घटना कूट-अंतरण कहलाती है। दुसरे शब्दों में कहे तो कूट-मिश्रण शब्दों के स्तर पर होता है अर्थात् व्याकरणिक सरंचना एक ही भाषा की रहती है पर शब्द किसी दूसरी भाषा के प्रयोग किए जाते हैं।वहीं कूट-अंतरण वाक्य के स्तर पर होता है जहाँ एक वाक्य की व्याकरणिक व्यवस्था किसी एक भाषा की होती है और दूसरे वाक्य की व्याकरणिक व्यवस्था किसी दूसरे भाषा की। कूट-मिश्रण की प्रकृति कुछ-कुछ पिजिन से मिलती है, जिस तरह पिजिन को संकर भाषा (Hybrid language) कहा जाता है उसी तरह कूट-मिश्रण को भी संकर भाषा कहा जा सकता है। पर इसे पिजिन नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि पिजिन में जिन दो या दो से अधिक भाषाओं के शब्दों या पदों का प्रयोग किया जाता है; वह वक्ता या श्रोता के संप्रेषण की मज़बूरी की वजह से है, परंतु कूट-मिश्रण का प्रयोग बहुभाषिकता के कारण होता है। पिजिन प्रयोक्ता की मातृभाषा नहीं होती,

बल्कि किसी मज़बूरी के साथ प्रयोग की जाती है, जबकि कूट-मिश्रण एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जो वार्तालाप में स्वत: ही घटित होती है। 'बलचनमा' में कूट-मिश्रण और कूट-अंतरण का जो भी रूप हमे देखने को मिलता है वह अत्यंत ही स्वाभाविक, सहज और सरल एवं पात्रानुकूल है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

कूट-मिश्रण एवं कूट-अंतरण पर विचार करने से पहले आयातित शब्द (Borrowed word) पर प्रकाश डालना जरूरी है क्योंकि आयातित शब्द को कूट-मिश्रण नहीं माना जाता है।

(4.5.2) आयातित शब्द

जब किसी भाषा का कोई शब्द किसी सामाजिक, आर्थिक कारणों से किसी दूसरी भाषा के शब्द भंडार का हिस्सा बन जाता है या किसी दूसरी भाषा में स्वीकार कर लिया जाता है तो इस घटना को उधार लेना और ऐसे शब्द को आयातित शब्द कहा जाता है। ऐसे शब्द अपनी भाषा में जिस तरह मूल शब्द के रूप में स्वीकृत किए जाते हैं वैसे ही ग्रहित भाषा में भी स्वीकृत किए जाते हैं। इसे Loan word भी कहा जाता है। हिंदी में ऐसे शब्दों को आयातित शब्द कहा जाता है । इस तरह के शब्दों में मुख्य रूप से खान-पान से संबंधित शब्द, पेड़-पौधे के नाम, किसी संख्या से जुड़े शब्द, संगीत से जुड़े शब्द आदि होते हैं। हिंदी में ऐसे अनेक शब्द अंग्रेजी एवं अरबी-फ़ारसी के हैं जिसे अब हम हिंदी के भी मानते हैं, मसलन, स्कूल, रेल, बटन, इजाज़त, पेंट, कोर्ट, प्लेयर आदि। हिंदी ही नहीं दुनिया की सभी भाषाओं ने कई भाषाओं से शब्दों को आयातित किया है। शब्दों के आयातित होने के कई कारण होते हैं जिसे हम ऐतिहासिक संदर्भ को सामने रखकर देख सकते हैं।

हम जानते हैं कि मध्यकाल में भारत में मुगलों का शासन था। यहाँ की राजकाज की भाषा फारसी थी, जिसके कारण यहाँ अरबी और फारसी के शब्द आए। आगे चलकर 19वीं शताब्दी से लेकर 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध पर अंग्रेजों का शासन रहा। उस समय देश में राजकाज की भाषा अंग्रेजी थी। इस कारण अंग्रेजी के शब्द यहाँ के शब्द भंडारका अनिवार्य हिस्सा बन गए।

कूट-मिश्रण पर विचार करते हुए आयातित शब्दों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। अंग्रेजी और फारसी के ऐसे अनेक आयातित शब्द हैं, जिनका प्रयोग नागार्जुन बलचनमा में करते हैं, मसलन

लीडर, लाटफारम, इसटीसन, जंक्सन, डूटी, मनिआडर, हिफाजत, इत्यादि। ये सभी शब्द अब हिंदी शब्द भंडार का हिस्सा बन गये हैं। कूट-मिश्रण में एक बात और भी ध्यान देनी चाहिए कि कुछ ऐसे भीआयातित शब्द हैं, जिनके अनूदित रूप हिंदी भाषा में उपलब्ध है पर कूट-मिश्रण के समय यह ध्यान देना अनिवार्य होगा कि क्या हिंदी का जो अनूदित रूप है वह प्रयोग में अंग्रेजी या किसी अन्य भाषा के शब्दों से ज्यादा प्रसिद्ध है या नहीं। अगर प्रयोग में ज्यादा अनूदित रूप का प्रचलन है तो कूट-मिश्रण नहीं होगा जैसे- टेबुल, ब्लैकबोर्ड, हुजूर आदि। इनके हिंदी अनुवाद मेज,श्यामपट और महाशय हैं, पर वे प्रयोग में ज्यादा नहीं हैं इसलिए ये सभी आयातित शब्द में आयेंगे कूट- मिश्रण में नहीं। कूट-मिश्रण में वक्ता की सामाजिक और शैक्षणिक स्थिति भी महत्त्वपूर्ण होती है। पढ़े-लिखे अथवा बहुभाषिक लोग इस तरह के भाषा-रूपों का ज्यादा प्रयोग करते हैं।

(4.5.3) 'बलचनमा' में चित्रित कूट-मिश्रण एवं कूट-अंतरण

'बलचनमा' का समाज अमीरी-गरीबी में विभक्त समाज है। यहाँ के लोगों में बहुत कम ऐसे लोग हैं जो शहर जाते हैं। इनकी जो भी जानकारी या बाहर की दुनिया को लेकर ज्ञान है वह किसी के माध्यम से मिलता है। जिस तरह से बलचनमा पटना जाता है या आश्रम जाता है, वह वहाँ से जानकारी लाकर गाँव को भी देता है। इस समाज में शिक्षा का स्तर ज्यादा ऊपर तो नहीं है और सामाजिक संपर्क भी सीमित है। इसलिए अधिकतर विदेशी भाषा या उस क्षेत्र से इतर की भाषा का प्रयोग आयातित शब्द के रूप में हुआ है। कुछ ऐसे भी पात्र हैं जो कूट-मिश्रण एवं कूट-अंतरण का प्रयोग करते हैं। इसके कुछ नमूने निम्नलिखित हैं। :

राधा बाबू - "कहना की कांग्रेस का **भोलनटीयर** हूँ। समझा?"[82]

बलचनमा - "आज तक मैं **बड़की** गाड़ी पर नहीं चढ़ा था। तब तक पटना **जंक्शन** का यह नया **बिल्डिंग** नहीं बना था। अब तो खैर बहुत बड़ा **बिल्डिंग** है। पहले इससे छोटा था बाहर भी इतनी बढ़िया सिलमिटवाली चिकनी सड़क नहीं थी..."[83]

फूल बाबू - "**हाँहुत्ती** कहीं का, सारा का सारा आज ही **भकोस** लेगा।"[84]

बलचनमा - "तुझे इतना भी नहीं **फुरा** की भैया की **एगोपोसकाट** लिखवाकर भेज देती!"[85]

चुन्नी - "यह दहउरा है मामा, कई बार आया हूँ इधर; बड़े मालिक की **कुटमैती** इस गाँव में भी है और **नेहरा** में भी। यहाँ के **सरसुत्ती** लोग और **नेहरा** के **चउधरी** लोग **मुलुक** भर में नामी हैं।"[86]

कूट-मिश्रण में जितने भी नमूने उदाहरण के रूप में चुने गये है उसमे कुछ पढ़े-लिखे हैं, कुछ थोड़े पढ़े हैं और कुछ अपढ़। इनके अशिक्षित होने का कहीं भी उल्लेख नहीं है पर इनकी भाषा के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है। चुन्नी की भाषा आम बोल-चाल की भाषा है। इनकी अपनी भाषा ठेठ मैथिली है इसलिए चुन्नी के कथन में मैथिली का समावेश नजर आता है मसलन कुटमैती (रिश्ता), नेहरा(मायका), सरसुत्ती(पढ़े-लिखे या सरस्वती), बाकीपूरे कथन में मानक हिंदी का प्रयोग किया गया है, मैथिली के साथ मानक हिंदी का प्रयोग लेखक या पात्र के हिंदी के प्रभाव से आया है। बलचनमा के कथन में अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है और राधा बाबू के कथन में भी अंग्रेजी के शब्द हैं। राधा बाबू शिक्षित वर्ग में आते है इसलिए ये प्राय: अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग करते हैं। बलचनमा के कथन में बिल्डिंग, पोसकाट, जंक्शन शब्दों का प्रयोग है। ये शब्द हिंदी के लिए आयातित हैं पर इसका प्रयोग ज्यादा प्रचलित नहीं है इसलिए इसे कूट-मिश्रण कहा जा सकता है। 'बलचनमा' में कूट-अंतरण का प्रयोग नहीं है सिर्फ कूट-मिश्रण का प्रयोग है।

कूट-मिश्रण और कूट-अंतरण के नमूने देखने से कई बातें स्पष्ट हो जाती है। एक तो यह की कई भाषायी समुदाय के लोग एक साथ रहते हैं तो भाषायी लेन-देन अनायास ही हो जाता है। कूट-मिश्रण और कूट-अंतरण के ये सभी उदाहरण समाज की बहुभाषिकता एवं बहुसंस्कृतिकता को दर्शाते हैं।

4.6 बहुभाषिकता

जनसंचार एवं यातायात के माध्यमों के विकास ने पूरे विश्व को एक गाँव में बदल दिया है। आज मनुष्य किसी गाँव या देश की सीमा में आबद्ध नहीं है। कोई भी कहीं भी जा सकता है, रह सकता है। यह सब बहुत सहजता एवं सरलता से संभव हो रहा है। कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी भी देश, राज्य या भाषायी समाज का हो, वह कहीं भी अपने को आसानी से अभिव्यक्त कर पा रहा है। कई दिनों तक साथ-साथ रहने के बाद बड़ी आसानी से एक भोजपुरी भाषी किसी तेलुगु भाषी से अपनी भाषा में संवाद स्थापित करने लगता है। कोई मलयालम भाषा-भाषी किसी हिंदी भाषायी समाज के सदस्य से अंग्रेजी में बात कर सकता है और हिंदी भाषा-भाषी उनसे

हिंदी में बोलकर अपनी भावनाएँ व्यक्त कर लेता है। इस तरह द्विभाषिकता की वजह से इनके बीच संप्रेषण में कोई बाधा नहीं पहुँचती। किसी तरह के अनर्थबोधन का सामना नहीं करना पड़ता। यहाँ संप्रेषण की सुविधा का मूल कारण यह है कि ये सभी भाषायी समुदाय यहाँ पर लगातार संपर्क में हैं। लगातार संपर्क में होने की वजह से ये आपस में भाषा और संस्कृति का आदान-प्रदान साझा करते रहते हैं। इस साझेदारी के कारण दोनों भाषा के शब्दों और अर्थों का आदान-प्रदान निरंतर होता रहता है। किसी उत्तर भारतीय भाषाई समाज को 'अन्ना' समझने में परेशानी नहीं होती और दक्षिण भारतीय भाषाई समाज को भी उत्तर भारतीय भाषाई शब्दों को समझने में दिक्कत नहीं होती।

समाजभाषाविज्ञान में भाषा व्यवहार की इस प्रवृत्ति को बहुभाषिकता कहते हैं। बहुभाषिकता के सैद्धांतिक पक्षों की व्याख्या द्वितीय अध्याय में हो चुकी है। इस अध्याय में 'बलचनमा' में चित्रित बहुभाषिकता का अध्ययन और विश्लेषण किया जा रहा है।

इस अध्याय में भाषायी समाज पर चर्चा करते हुए 'बलचनमा' के कथाक्षेत्र के भाषायी भूगोल पर विस्तृत जानकारी दी गयी है। भाषायी भूगोल के विश्लेषण से पता चलता है कि इस क्षेत्र में कई भाषायी समुदाय का आपसी संपर्क होता रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि लगातार भाषायी संपर्क की स्थिति बनी रहती है। ऐसे में यह संभव है कि एक भाषायी समुदाय के लोग दूसरी भाषायी समुदाय को समझते हों, एक-दूसरे के समक्ष अपने को संप्रेषित करने में सक्षम हों। यहाँ संप्रेषण की कई स्थितियाँ हो सकती हैं, मसलन कुछ लोग एक दूसरे की भाषा समझ लेते हैं, पर बोल नहीं पाते हैं, कुछ लोग समझते हैं पर धाराप्रवाह बोल नहीं पाते हैं और कुछ लोग आसानी से समझते भी हैं और धाराप्रवाह बोल भी पाते हैं। इन सभी स्थितियों में एक बात सामान्य है कि ये सभी भाषायी समुदाय एक दूसरे की भाषा को समझते हैं और यह समझना भी बहुभाषिकता की न्यूनतम शर्त है।

बहुसंस्कृतिकता बहुभाषिकता के प्रमुख कारणों में से एक है। शिक्षा भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है जिसकी चर्चा रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, दिलीप सिंह और डी.पी.पटनायक के हवाले से द्वितीय अध्याय में की जा चुकी है। जब हम बहुभाषिकता के निकष पर 'बलचनमा' को रखते है तो यह देखते है कि 'बलचनमा' का कथाक्षेत्र रामपुर से लेकर दरभंगा तक और फिर पटना का भी जिक्र है। कथाक्षेत्र के अनुसार भाषा भी बदलती है। किसी दूसरे गाँव में आना-जाना तथा परस्पर

रिश्तेदारी यहाँ सामान्य बात है। परिणामत: सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी होता है। इस सांस्कृतिक आदान-प्रदान की वजह से भाषायी साझेदारी बनी हुई है। शिक्षा के प्रति जागरूकता के कारण और राजनीतिक कारणों से अंग्रेजों का प्रचलन पुरी दुनिया में है। इसके असर से बलचनमा का समाज भी नहीं बच सका है। इन सभी पक्षों का चित्रण 'बलचनमा' में हुआ है।

(4.6.1) 'बलचनमा' में चित्रित बहुभाषिकता

'बलचनमा' की कथावस्तु का विषय मधुबनी का एक छोटा सा गाँव रामपुर है। इस उपन्यास का कथाक्षेत्र मधुबनी और उसके आस-पास का इलाका है। इस इलाके की मातृभाषा मैथिली है। रामपुर गाँव में ठेठ मैथिली बोली जाती है। साहित्य में जिस मैथिली का प्रयोग किया जाता है वह सभ्य मैथिली कहलायी जाती है। लेकिन गाँव में बोलचाल की मैथिली का प्रचलन है जिसे ठेठ मैथिली कहा जाता है। रामपुर में लोग मैथिली के साथ हिंदी भी बोलते हैं। यहाँ के शिक्षित लोग अंग्रेजी भी समझते हैं और बोलते भी हैं। अशिक्षित लोग यहाँ हिंदी के साथ मैथिली भी बोलते हैं। इनकी बहुभाषिकता के अनेक उदाहरण उपन्यास में बिखरे पड़े हैं। यथा :

बलचनमा - "अपने मालिक को देखते ही मेरा मन **गहबरिन** हो उठा।"[87]

बलचनमा की माँ - "पानी में रहकर मगर से बैर? जिन लोगों का जूठन खाकर तू बड़ा हुआ है उन्हीं के बारे में ऐसी-ऐसी बातें सोचता है? अधरम होगा रे बलचनमा, अधरम! **गोसैंया** नाराज हो जाएँगे।**सहर** जाकर यही इलम सीख आया है? बूढ़े-पुराने भी तो तेरे इन्हीं लोगों का जूठन खाकर, फेरन-फारन पहन-ओढ़कर अपनी जिनगी **गुदस्त** कर गए। इतना **उड़ात** मत बन बेटा!"[88]

बलचनमा- "बात यह थी भैया कि राधा बाबू राजा खानदान के थे। पढ़ाई करते समय **इस्टेट** का पैसा फूँकते थे और अब **पबलिक** का...।"[89]

बलचनमा का मामा- "कौन **टीसन** है ये बालचंद?"[90]

राधा बाबू- " यह रहा बलचनमा रहमानसाहब, लिख लीजिए इसका भी नाम **भोलंटीयरों** में।"[91]

इन कथनों में राधा बाबू हिंदी के साथ अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। वहीं बलचनमा भी अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग करता है साथ ही साथ मैथिली और हिंदी भी बोलता है। बलचनमा की माँ मैथिली के साथ हिंदी के तद्भव शब्दों का प्रयोग कर रही है। वहीं बलचनमा के मामा हिंदी के साथ अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते है। गाँव में अधिकतर लोगों की भाषा मैथिली मिश्रित हिंदी है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये लोग मैथिली, हिंदी और अंग्रेजी तीनों भाषाओं को समझ सकते हैं। उपन्यास में कई जगहों पर इन तीनों भाषाओं के मिश्रित रूप में संवाद हुआ है, जो इस समाज की बहुभाषिकता को प्रमाणित करते हैं।

उपन्यास में और भी ऐसे अनेक प्रसंग हैं जहाँ एक पात्र कई भाषाओं में संवाद स्थापित करते हैं और अर्थबोधन में कोई समस्या उत्त्पन्न नहीं होती। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि ये सभी एक साथ बहुत दिनों से रह रहे हैं। साथ ही इन सभी भाषाओं में एक तरह की समानता है। बहुत से शब्द थोड़े हेर-फेर के साथ एक तरह से प्रयोग किए जाते हैं। सफल संप्रेषण का दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि इन भाषाओं की सांस्कृतिक समानता। जितने भी समाज इस उपन्यास में आए हैं उनमें एक तरह की सांस्कृतिक एकता है। आपसी संपर्क के कारण सांस्कृतिक साझेदारी भी हमेशा रहती है। यही कारण है की ये एक दूसरे की भाषा को आसानी से समझ पाते हैं।

कुल मिलाकर कह सकते हैं कि कूट-मिश्रण,कूट-अंतरण और बहुभाषिकता की प्रक्रिया किसी भी समाज के लिए सहज है। दूसरे अध्याय में यह चर्चा हो चुकी है कि बहुभाषिकता में ये दोनों एक अहम भूमिका अदा करते हैं। कोई भी समाज जब दूसरे समाज से संबंध स्थापित करता है तो उसमें भाषा एक अहम भूमिका निभाती है। बहुभाषिकता की प्रक्रिया के कारण ही एक समाज दूसरे समाज से भाषायी संप्रेषण कर सकता है। इस मायने से कूट-मिश्रण और कूट-अंतरण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। 'बलचनमा' में भी एक समाज का दूसरे समाज से संपर्क स्थापित करने की प्रक्रिया में भाषा में कूट-मिश्रण, कूट-अंतरण और बहुभाषिकता का प्रयोग हुआ है।

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते है कि 'बलचनमा' उपन्यास नागार्जुन की श्रेष्ठ कृति है। समाजभाषाविज्ञान के जितने भी मापदंड हैं वो 'बलचनमा' में पर्याप्त रूप से मौजूद हैं। उपन्यास की भाषा का विश्लेषण करने के लिए उस अंचल विशेष की भौगोलिक स्थिति का विश्लेषण भी जरूरी है। इस अध्याय में नागार्जुन का समाज और राज्य के भाषा की जानकारी दी गयी है। ग्रियसन ने बिहार की बोलियों का विश्लेषण करते हुए उसकी असमानता को रेखांकित किया है।

भौगोलिक जानकारी किसी भी आंचलिक उपन्यास के लिए कितना जरूरी है इसे विश्लेषित किया गया है।

'बलचनमा' के भाषायी समाज का विश्लेषण करते हुए यह देख सकते है कि इस उपन्यास का समाज वर्ग विभाजित है। अमीरी-गरीबी तथा शोषणकारी समाज इस उपन्यास में नजर आता है। इस उपन्यास को पढ़कर यह प्रतीत होता है कि वर्ग-व्यवस्था किस तरह से समाज के मूल्यों को खोखली करते जा रही है। नागार्जुन ने बहुत ही मार्मिक रूप से इसका कथानक गढ़ा है।

नागार्जुन कृत 'बलचनमा' में आंचलिकता के सभी तत्त्व निहित हैं। आंचलिक तत्त्व जैसे धार्मिक विश्वास, रूढ़िवादिता, लोक-संस्कृति, मुहावरा, लोकोक्तियाँ इत्यादि सभी तत्त्व इस उपन्यास में अंतर्निहित हैं, जिनका विश्लेषण इस अध्याय में किया गया है। इस उपन्यास की भाषा भी अत्यंत सरल और सहज है। अंचल विशेष की आम-बोलचाल की भाषा का प्रयोग इसमें हुआ है। यह उपन्यास इन्हीं विशेषताओं के कारण आंचलिक उपन्यासों में श्रेष्ठ है।

'बलचनमा' में प्रयुक्त समाज-बोली प्रशंसनीय है। नागार्जुन ने 'बलचनमा' में भाषा के माध्यम से केवल सामाजिक अभिव्यक्ति ही नहीं दी है; बल्कि उस समाज की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक चेतना और अस्मिता को भी अभिव्यक्त किया है। भाषायी प्रयोग के माध्यम से उस समाज की सारी योग्यताएँ और सीमाएँ भी अभिव्यक्त हो गयी हैं। समाज-बोली के द्वारा एक समाज से दूसरे समाज में भाषायी संप्रेषण को 'बलचनमा' में बखूबी दिखाया गया है।

भाषा-विकल्पन के संदर्भ में यह कहना उचित होगा कि नागार्जुन ने 'बलचनमा' के हर पात्र के लिए एक अलग तरह की भाषा रचने का प्रयास किया है।उन्होंने भाषायी विभिन्नता को कहीं भी पांडित्यपूर्ण होने नहीं दिया है। इस उपन्यास में अनेक स्तर पर भाषा-विकल्पन दिखाई देता है। 'बलचनमा' में अनेक विकल्पन मसलन संस्थागत विकल्पन, शैक्षणिक योग्यतागत विकल्पन को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

भारत में राजनीतिक कारणों से अंग्रेजी और अरबी-फारसी के शब्दों का आगमन हुआ। इन भाषाओं के अनेक शब्द यहाँ की भाषाओं में स्वीकार कर लिए गये, जिसकी चर्चा 'आयातित शब्दों' में की गयी है। बहुभाषिकता के कारण इन आयातित शब्दों के साथ-साथ अंग्रेजी था अन्य भाषायी शब्दों का प्रयोग यहाँ का जनमानस करता है। इस तरह के प्रयोग समाजभाषाविज्ञान में कूट-मिश्रण एवं कूट-अंतरण के रूप में व्याख्यायित-विश्लेषित किए जाते हैं। कूट-मिश्रण और

कूट-अंतरण की बात करें तो 'बलचनमा' में कूट-अंतरण न के बराबर है, लेकिन कूट-मिश्रण का प्रयोग धड़ल्ले से हुआ है। इस उपन्यास के कूट-मिश्रण के विश्लेषण से पता चलता है कि यहाँ के लोग मूल रूप से अंग्रेजी एवं क्षेत्रीय भाषा के शब्दों,वाक्यों और उपवाक्यों का मिश्रण करते हैं।

इस प्रकार संपूर्ण अध्याय के निष्कर्ष पर विचार करें तो पायेंगे की 'बलचनमा' में जो बहुभाषिकता है, वह कुछ कारणों से है। पहला तो इस समाज के लोग बाहर पढ़ाई करने जाते हैं या काम करने जाते हैं। वहाँ की भाषा को ये अपने समाज तक लाते हैं। इसके कारण भाषा और संस्कृति का जुड़ाव हो जाता है। दूसरा इस समाज के लोग धीरे-धीरे शिक्षित हो रहे हैं। शिक्षा के प्रचार-प्रसार से भाषा का आदान-प्रदान होता है। ऐसे में लोग कई भाषाओं को जानने, समझने और बोलने लगते हैं। बलचनमा में इन कारणों के दर्शन होते हैं। अत: बहु संस्कृतिकता और शिक्षा का प्रचार-प्रसार से उपजी बहुभाषिकता 'बलचनमा' में दिखाई पड़ता है।

कुल मिलाकर कह सकते हैं कि ये सारे मापदंड भाषा व्यवहार की स्वाभाविक प्रक्रिया है। यहीं कारण है की 'बलचनमा' में भाषा-व्यवहार के विविध रूप देखने को मिलते हैं। इसका एक कारण यह है कि 'बलचनमा' में पात्रों की विविधता है। रचनाकार के लिए यह एक चुनौती भी होती है कि वह अपने पात्रों को संपूर्णता में व्यक्त करे और ऐसे में भाषा ही संप्रेषण की एक मात्र माध्यम रह जाती है। इस नजरिये से देखा जाए तो नागार्जुन का भाषा प्रयोग अत्यंत सफल और पात्रानुकूल है। इस तरह से देखा जाए तो 'बलचनमा' में समाजभाषाविज्ञान के मापदंडों का प्रयोग सफल और तर्कसंगत है। अंतत: हम कह सकते है कि 'बलचनमा' का समाजभाषावैज्ञानिक विश्लेषण एवं उसके अंतर्गत उनके विभिन्न मानकों का अनुशीलन इस उपन्यास को समझने की नवीन दृष्टि प्रदान करता है।

उपसंहार

समाजीकरण की प्रक्रिया में भाषा और लिपि की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। भाषा के माध्यम से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से तथा एक समाज दूसरे समाज से जुड़ा और आपसी भावों का परस्पर आदान-प्रदान किया। लिपि में इन भावों और विचारों को चित्रात्मक एवं अक्षरात्मक रूप में सिंचित किया। यह क्रम प्राचीनकाल से चलता आज मल्टीमिडिया के दुनिया तक पहुँच चुका है।व्यक्ति ने भाषा तथा लिपि के माध्यम से केवल भावों और विचारों का संघर्ष ही नहीं किया, बल्कि उस भाषायी समाज की सांस्कृतिक परंपरा और भाषायी अस्मिता को भी सुरक्षित और संगृहित किया। इस प्रकार इस माध्यम के द्वारा किसी समाज के इतिहास को जानने समझने की पद्धति अत्यंत आसान हो गया। आज उत्खनन विभाग और पुरातत्त्व विभाग इसके माध्यम से अनेक सभ्यता, संस्कृति और समाज के विकास और विनाश का पता लगा चुके हैं। इस तरह के साधनों में साहित्य भी एक महत्त्वपूर्ण उपकरण और सामग्री का काम करता है। साहित्य में किसी समाज की सांस्कृतिक परंपरा और भाषायी अस्मिता सरंक्षित और सुरक्षित रहती है; जिसे हम उनकी भाषा के माध्यम से समझ सकते हैं। समाजभाषाविज्ञान साहित्य के इस प्रकार के विश्लेषण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। समाजभाषाविज्ञान में भाषा को सामाजिक प्रतीक व्यवस्था मानकर इसका अध्ययन-विश्लेषण सामाजिक सन्दर्भों के आधार पर किया जाता है। अत: इसमें वक्ता की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति का अनुमान अत्यंत प्रामाणिकता के साथ लगाया जा सकता है। इसी तरह के प्रयास प्रस्तुत शोध में नागार्जुन कृत 'बलचनमा' का समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन कर वहाँ की समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक तथ्यों की पड़ताल की गयी है। प्रस्तुत अध्ययन-विश्लेषण से हमें निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं।:

प्रथम अध्याय में नागार्जुन के व्यक्तितत्त्व और कृतित्त्व का विश्लेषण किया गया है। अपनी जिंदगी में नागार्जुन ने जिन समस्याओं का सामना किया है, उनका विवरण इस अध्याय में हुआ है। पढ़ाई के लिए अपने पिता के विरुद्ध जाना, अपनी माता से अपार स्नेह, पिता की बुरी आदतों की वजह से बाल्यकाल में पिता की छवि का चित्रण, घुमक्कड़ प्रवृत्ति इन सभी का वर्णन प्रथम अध्याय में हुआ है। उनके कृतित्त्व परिचय का वर्णन देते हुए उनके साहित्य के मूल भाव, साहित्य की विषय वस्तु इत्यादि का विश्लेषण किया गया है। इसके अलावा उनके उपन्यासों का संक्षिप्त विश्लेषण भी किया गया है।

द्वितीय अध्याय में समाजभाषाविज्ञान के सैद्धांतिक पक्षों का विश्लेषण किया गया है। समाजभाषाविज्ञान भाषा के सामाजिक सन्दर्भों की पड़ताल करता है। इस प्रक्रिया में समाज और भाषा के घात-प्रतिघात को समझने के लिए भाषायी समाज, व्यक्ति बोली, समाज बोली, प्रयुक्ति, लिंग्वाफ्रेंका, पिजिन, क्रियोल, बहुभाषिकता, भाषा-विकल्पन, कूट-मिश्रण, कूट-अंतरण को समझने का प्रयास किया गया है।

समाजभाषाविज्ञान की अवधारणा भाषा को समझने की नवीन दृष्टि प्रदान करता है। इसकी शुरुआत बोली विज्ञान से होती है परंतु वहीं आगे परिवर्तित परिवर्धित होकर समाजभाषाविज्ञान के नाम से भाषाविज्ञान की एक शाखा के रूप में स्थापित होता है। कई विद्वानों ने प्रारंभ में समाजभाषाविज्ञान और भाषा के समाजशास्त्र को एक ही माना है। अध्याय के प्रारंभ में की गयी चर्चा यह स्पष्ट करती है कि भाषा का समाजशास्त्र भाषा के संस्थागत अस्मिता को रेखांकित करता है, मसलन कौन-सी भाषा राजकाज की भाषा हो, किसे शिक्षा का माध्यम बनाया जाए आदि। पर समाजभाषाविज्ञान भाषा और समाज के अंत:संबंधों को वृहतर स्तर पर प्रकाशित करने का प्रयास करता है। इसी प्रयास के परिणाम स्वरूप अनेक मानक निर्मित किए गये, भाषायी समाज, प्रयुक्ति, लिंग्वाफ्रेंका, क्रियोल, पिजिन, कूट-मिश्रण, कूट-अंतरण, बहुभाषिकता, भाषा-विकल्पन। इन्हीं मानकों के आधार पर समाजभाषाविज्ञान किसी भी भाषा का विवेचन करता है।

इस अध्याय में इन सभी मानकों का विवेचन किया गया है। प्रस्तुत सैद्धांतिकी समाजभाषाविज्ञान के मूलभूत आधार हैं। इन्हीं मानकों के आधार पर किसी भाषा की समाजभाषावैज्ञानिक व्याख्या की जाती है। इनके आधार पर ही आगे की खोज संभव है। इन मानकों को स्पष्ट रूप से विश्लेषित करने के लिए विभिन्न विद्वानों के मतों का सहारा लिया गया है। निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि उपर्युक्त विश्लेषण मानक साहित्य के समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन की पृष्ठभूमि तैयार करता है।

तृतीय अध्याय में साहित्य और समाजभाषाविज्ञान के बीच अन्योन्याश्रित संबंध को दर्शाने की कोशिश की गयी है। साहित्य समाजभाषाविज्ञान के लिए तथ्य उपलब्ध कराता है और समाजभाषाविज्ञान साहित्य की भाषा का विश्लेषण कर इसे नया संदर्भ प्रदान करता है। चूँकि समाजभाषाविज्ञान किसी भाषा का विश्लेषण सामाजिक सन्दर्भों के आधार पर करता है। इसलिए यह वक्ता के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश और परिस्थिति का पूर्ण आकलन प्रस्तुत करता है।

हिंदी कथा साहित्य में, विशेषतः आंचलिक साहित्य और अस्मितामूलक साहित्य मसलन दलित साहित्य, स्त्री साहित्य आदि के विश्लेषण में अत्यंत सफल उपकरण साबित हो सकता है क्योंकि इनमें लेखक किसी न किसी विशेष भाषायी समुदाय को अभिव्यक्त करता है। साथ ही इनमें व्यक्त भाषा की अनेक पर्तें होती हैं जो जाति, धर्म, क्षेत्र, वर्ण, शिक्षा, पैसा आदि विभिन्न श्रेणियों में विभक्त होती हैं। साहित्य में ये सभी स्तरीकरण भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। इसलिए समाजभाषाविज्ञान इसे समझने और समझाने में नवीन दृष्टि प्रदान करता है। सामाजिक-संजाल, वाक्-व्यापार, और वार्तालाप-सहयोग का सिद्धांत साहित्य और समाजभाषाविज्ञान के बीच सेतु का काम करता है। दोनों के विवेचन-विश्लेषण में कारगर है।

अंतिम अध्याय में समाजभाषाविज्ञान के मानकों के आधार पर 'बलचनमा' को विश्लेषित करने की कोशिश की गयी है। बलचनमा में चित्रित परिवेश एक सांस्कृतिक परिवेश है। अनेक संस्कृतियों के आपसी संपर्क के कारण यहाँ के समाज में बहुभाषिकता और भाषायी विविधता पाई जाती है। इन भाषायी विविधता के कारण यहाँ के समाज में कूट-मिश्रण, कूट-अंतरण,भाषा-विकल्पन आदि भाषायी विशेषता पाई जाती है। बलचनमा में बहुत से पात्र बहुभाषिक हैं। जैसे बलचनमा, राधा बाबू, फूल बाबू, चुन्नी इत्यादि। इस उपन्यास में लगभग सभी पात्र ऐसे हैं जो एक से अधिक भाषाओं को जानते हैं। राधा बाबू को अंग्रेजी, हिंदी और मैथिली तीनों भाषाओं का ज्ञान है, वहीं फूल बाबू को भी इन तीनों भाषाओं का ज्ञान है, बलचनमा को थोड़ी बहुत अंग्रेजी, हिंदी और मैथिली का ज्ञान है, चुन्नी को मैथिली और हिंदी का ज्ञान है। ये सभी पात्र बहुभाषिक हैं अर्थात् एक से अधिक भाषाओं को जानते हैं। चूँकि ये सभी बहुभाषिक हैं इसलिए इनके संवादों में एक से अधिक भाषाओं के शब्दों, वाक्यों और उपवाक्यों का मिश्रण और अंतरण दिखाई देता है। 'बलचनमा' में ये सभी भाषाएँ घटनाएँ अत्यंत सहजता से अभिव्यक्त हुई है।

भाषा के माध्यम से पात्रों का चरित्र-निर्माण नागार्जुन के साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है। नागार्जुन अपने पात्रों को समाज एवं सामाजिकता को भाषा में गढ़ते हैं, जिसके कारण प्रत्येक पात्र एवं समाज को एक अलग भाषायी पहचान मिलती है। ऐसे में पाठक भाषा के द्वारा ही पात्रों का परिचय पा लेता है। उपन्यास में जब किसी एक पात्र का एक बार परिचय प्राप्त हो जाता है तो अन्यत्र उसके नाम की आवश्यकता नहीं पड़ती। पाठक आसानी से समझ जाते हैं कि ये संवाद किसका है। समाजभाषाविज्ञान में इस तरह की भाषायी घटना को व्यक्ति-बोली कहते हैं। बलचनमा में ऐसा कोई पात्र नहीं है जो व्यक्ति-बोली का उदाहरण प्रस्तुत कर सके। इस तरह

समाज-बोली को भी नागार्जुन ने भाषायी प्रयोग के माध्यम से रेखांकित करने का प्रयास किया है। 'बलचनमा' में गाँव के लोग हिंदी मिश्रित ठेठ हिंदी का प्रयोग करते है। कांग्रेस पार्टी के सदस्यों की भाषा में अहिंसा और समन्वयवादी स्वर है, सोशलिस्टों की भाषा में मार्क्सवादी चेतना का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसी तरह शिक्षितों की भाषा में मानक-हिंदी के वाक्यों में अंग्रेजी, अरबी-फारसी के शब्दों का इस्तेमाल किया गया है, जबकि अशिक्षित पात्रों की भाषा में मानक-हिंदी के तद्भव और देशज शब्दों का प्रयोग किया गया है; इनके उच्चारण में क्षेत्रीय भाषाओं के आरोह-अवरोह का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है।

संपूर्णता में देखें तो कह सकते है कि 'बलचनमा' में भारतीय भाषायी यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है। भारत एक बहुभाषिक देश है। यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति एक से अधिक भाषाएँ जानता है। बलचनमा में प्रत्येक व्यक्ति और समाज बहुभाषिक है। भारत का कोई भी क्षेत्र, जो कई भाषाओं की सीमा से जुड़ा है, के लोगों की भाषा का स्वरूप अत्यंत जटिल होता है। 'बलचनमा भी इसी भाषायी जटिलता को हमारे सामने प्रस्तुत करता है। यहाँ के लोगों की बहुआयामी भाषायी अस्मिता का सफल चित्रण 'बलचनमा' में हुआ है। अंततः हम कह सकते है कि समाजभाषाविज्ञान की दृष्टि से बलचनमा एक सफल उपन्यास है।

संदर्भ

[1]डॉ प्रभुशंकर शुक्ल, नागार्जुन की आंचलिक सर्जना का मूल्यांकन, पृ.सं.: 69

[2]प्रभाकर माचवे, आज के लोक प्रिय हिंदी कवि नागार्जुन, पृ.सं.: 3

[3]बाबूराम गुप्त, उपन्यासकार नागार्जुन, पृ.सं.: 2

[4]शोभाकांत,नागार्जुन मेरे बाबूजी, पृ.सं.: 14-15

[5]डॉ. शशिभूषण सिंहल, हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियां, पृ.सं.: 131

[6] नागार्जुन,बलचनमा, पृ.सं.: 1

[7]नागार्जुन,कुम्भीपाक, पृ.सं.: 3

[8] रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, रामानाथ सहाय, हिंदी का सामाजिक संदर्भ, पृ.सं.: 7

[9] RonaldWardhaugh, An Introduction to Sociolinguistics, pg : 13

[10]रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, रामानाथ सहाय, हिंदी का सामाजिक संदर्भ, पृ.सं.: 21

[11]RonaldWardhaugh, An Introduction to Sociolinguistics, pg : 30

[12]भोलानाथ तिवारी, प्रियदर्शिनी मुकुल, हिंदी भाषा की सामाजिक भूमिका, पृ.सं.: 17

[13] Peter L. Petric, The speech community, NWAVE - 28

[14]रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, हिंदी भाषा का समाजशास्त्र, पृ.सं.: 26

[15]देवेन्द्रनाथ शर्मा, दीप्ति शर्मा, भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ.सं.: 57

[16]रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, हिंदी भाषा का समाजशास्त्र, पृ.सं.: 37

[17]RonaldWardhaugh, An introduction to Sociolinguistics, pg. 24

[18] भोलानाथ तिवारी, हिंदी भाषा की सामाजिक भूमिका, पृ.सं.: 19

[19]R.A Hudson, Sociolinguistics, pg. 32

[20]वही, पृ.सं.: 45

[21] RonaldWardhaugh, An introduction to Sociolinguistics, pg. 48

[22]रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, रामानाथ सहाय, हिंदी का सामाजिक संदर्भ, पृ.सं.: 18

[23] Wikipedia

[24] Ronald Wardhaugh, An Introduction to sociolinguistics, pg. 55

[25] Rajend meshtrie, Concise Encyclopedia of Sociolinguistics, pg. 525

[26] Peter Muhlhausler, Pidgin & Creole Linguistics, pg. 3

[27]वही, पृ.सं.: 5

[28] P.H Matthews, Concise Dictionary of Linguistics, pg. 303

[29]रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, रामानाथ सहाय, हिंदी का सामाजिक संदर्भ, पृ.सं.: 110

[30] Ronald Wardhaugh, An Introduction to sociolinguistics, pg. 5

[31] Peter Muhlhausler, Pidgin & Creole Linguistics, pg. 6

[32]वही पृ.सं.: 6

[33]दिलीप सिंह, भाषा का संसार, पृ.सं.:155

[34]भोलानाथ तिवारी, प्रियदर्शिनी मुकुल, हिंदी भाषा की सामाजिक भूमिका, पृ.सं.: 38

[35] : P.H Matthews, Concise Dictionary of Linguistics, pg. 62

[36] Aditi Mukharjee, Language Variation and Language Change,Forward pg.

[37]'शीतांशु', शशिभूषण पाण्डेय, अद्यतन भाषाविज्ञान: प्रथम प्रमाणिक विमर्श पृ.सं.:136

[38]William Downes, Language and society, Pg. 1

[39] अज्ञेय, अद्यतन, पृ.सं. - 15

[40] आलोचना : अप्रैल-जून 1974, पृ.सं. 65

[41] socio linguistics in Hindi context - viii

[42] रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, हिंदी भाषा का समाजशास्त्र, पृ.सं.- 38

[43]Mesthrie Rajend ,Concise encyclopaedia of sociolinguistic

[44]socio linguistics in Hindi context - vii (Introduction)

[45]socio linguistic patterns, Pg. 267

[46]American speech Vol. 66, No. 1 (sprin - 1991) pg. 59

[47] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.सं.: 18

[48] अज्ञेय, अद्यतन(भाषा और साहित्य), पृ.सं.: 19

[49]Illusion and reality, pg. ix (Introduction)

[50] मैनेजर पाण्डेय,साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.सं.: 14

[51] अज्ञेय, साहित्य और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया, पृ.सं.: 88

[52] Meshtrie Rajend, Introducing socio linguistics, pg. 123

[53]**James Milroy and Lesley Milroy,** ***Authority in language: Investigating language prescription and standardization*****. London: Rout ledge & Kean Paul, 1985.**

[54] Meshtrie Rajend, Introducing socio linguistics, pg. 123

[55]वही, पृ.सं. 124

[56] Meshtrie Rajend, Concise Encyclopedia of socio linguistics: pg. 198

[57]भाषा विज्ञान परिभाषा कोश (भाग-2) : पृ.सं. : 216

[58] A student dictionary of L.L. (204)

[59]An Introduction to socio linguistics, pg.281

[60] Meshtrie Rajend, Concise encyclopedia of sociolinguistic, pg. 202

[61] वही, पृ.सं. 117

[62]Meshtrie Rajend, An Introducing sociolinguistics : pg. 287

[63]निर्मल वर्मा की प्रतिनिधि कहानियाँ

[64]कैलाशचंद्र भाटिया,भाषा भूगोल, पृ.सं.: 290-291

[65]G.A. Greisens, Linguistic Survey of India, Vol. 5 (Part 2) Pg. 4

[66]नागार्जुन, 'बलचनमा' राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, सातवाँ संस्करण: 2016, पृष्ठ. संख्या: 58

[67] वही, पृ.सं. : 34

[68] वही, पृ.सं. : 114

[69] वही, पृ.सं. : 79

[70] वही, पृ.सं. : 112

[71] वही, पृ.सं. : 6

[72] वही, पृ.सं. : 8

[73] वही, पृ.सं. : 33

[74] वही, पृ.सं. : 44

[75] वही, पृ.सं. : 46

[76] वही, पृ.सं. : 79

[77] वही, पृ.सं. : 101

[78]वही, पृ.सं. : 74

[79]वही, पृ.सं. : 49

[80] वही, पृ.सं. : 134

[81] वही, पृ.सं. : 135

[82] वही, पृ.सं. : 80

[83] वही, पृ.सं. : 93

[84] वही, पृ.सं. : 35

[85] वही, पृ.सं. : 104

[86] वही, पृ.सं. : 111

[87]वही, पृ.सं. : 49

[88]वही, पृ.सं. : 53

[89]वही, पृ.सं. : 83

[90]वही, पृ.सं. : 111

[91]वही, पृ.सं. : 130

परिशिष्ट

आधार ग्रंथ

नागार्जुन, बलचनमा, राजकमल पेपरबैक्स, दरियागंज, नई दिल्ली -110002, प्रथम संस्करण: 1997

श्रीवास्तव रवीन्द्रनाथ, हिंदी भाषा का समाजशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, जगतपुरी दिल्ली -110051, प्रथम संस्करण : 1994

Wardhaugh Ronald, An Introduction to Sociolinguistics, Blackwell Publishers, Inc 350 Main Street, Malden, Massachusetts 02148, USA, Third Edition: 1998

सहायक ग्रंथ

1 तिवारी भोलानाथ, प्रियदर्शिनी मुकुल, हिंदी भाषा की सामाजिक भूमिका, उच्च शिक्षा एवं शोध संस्थान, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा मद्रास, संस्करण: 1982

2 श्रीवास्तव रवीन्द्रनाथ, सहाय रमानाथ (सं.) हिंदी का सामाजिक संदर्भ, केंद्रीय हिंदी संस्थान, हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा 282005, चतुर्थ संस्करण : 2008

3 शर्मा देवेन्द्रनाथ, शर्मा दीप्ति, भाषाविज्ञान की भूमिका, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, जगतपुरी दिल्ली 110051, प्रथम संस्करण : 1996

4 Hudson R. A., Sociolinguistics, Cambridge University Press, The Edinburgh Building, Cambridge CB2 2RU, UK, Second Edition: 1996, Reprinted: 2001

5 Mesthrie Rajend (ed.), Concise Encyclopedia of Sociolinguistics, Elsevier Science Ltd., The Boulevard, Langford Lane, Killington, Oxford OX5 IGB, UK, 2001

6 Muhlhausler Peter, Pidgin & Creole Linguistics,Battle bridge publication.

7 Matthews P.H., Concise Dictionary of Linguistics, Oxford University Press, Great Clarendon Street, Oxford OX26DP, Second Edition: 2007.

8 Mukharjee Aditi (ed.), Language Variation And Language Change, Center of Advanced Study in Linguistics, Osmania University, Hyderabad 500007, First Edition: 1989

9 पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु', अद्यतन भाषाविज्ञान: प्रथम प्रमाणिक विमर्श, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद - 1, संस्करण : 2012

10 Downes William, language and society, Cambridge university press, second edition: 1998

11 Mesthrie Rajend, Swann Joan, Deumert Ana and William l. leap, Edinburgh university press, first edition: 2000

12 रस्तोगी डॉ. कविता, भाषाविज्ञान परिभाषा कोश, भारत बुक सेंटर, लखनऊ

13 वर्मा निर्मल, प्रतिनिधि कहानियाँ, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2016

14 गुप्त बाबूराम, उपन्यासकार नागार्जुन, श्याम प्रकाशन, जयपुर, संस्करण: 1985

15 शोभाकांत, नागार्जुन: मेरे बाबूजी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2011

16 माचवे प्रभाकर, आज के लोकप्रिय हिंदी कवि नागार्जुन, राजपाल एंड सन्ज प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 1977

17 मदान डॉ इंद्रनाथ, आज का हिंदी उपन्यास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 1966

18 नागार्जुन, नागार्जुन: संपूर्ण उपन्यास (भाग - 1,2), यात्री प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2011

19 भाटिया कैलाशचंद्र, भाषा भूगोल, हिंदी समिति प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण 1973

पत्रिकाएं

'अज्ञेय' सच्चिदानद हीरानंद वात्स्यायन, अद्यतन 1974

आलोचना, अप्रैल-जून 1974

वातायन, 'सृजन मूल्यांकनअंक'